(१)

चञ्चुप्रवेशो यद्यत्र द्विजस्योत्पतत क्वचित्,
तदाऽम्लत्व कषायत्वं दूरापास्तं हि ज्ञायताम्।

(२)

नहि किञ्चिन्निगूढं हि तत्त्व नामेह संस्कृतौ,
परं धूमायित. कैश्चिद् विषय प्रकृतिं गत ।

(३)

निबन्धो लघुकायोऽयं महतोऽपि विनेष्यति,
महामूल्यान्महाकायान् गजेन्द्रानङ्कुशो यथा।

लेखक का निवेदन

भयंकर नर-संहार के बाद और राष्ट्र के दो टुकड़े हो जाने के बाद जब अपने हिस्से के भूभाग पर अपना राज हुआ तो मन में आया कि अब स्वसंस्कृति की प्रतिष्ठा होनी चाहिए। एक राष्ट्र की एक जाति होती है और उसकी 'अपनी' एक संस्कृति होती है। संस्कृति की एकता ही जाति का निर्माण है। इंग्लैंड एक देश, या राष्ट्र है। उस राष्ट्र की जाति को 'इंग्लिश' कहते हैं। 'इंग्लिश कल्चर' कहने से समझा जाता है—इंग्लिश जाति का (इंग्लिश नेशन का) रहन-सहन, रीति-रिवाज, वेश-भूषा, खान-पान का ढंग आदि। इसी को हम 'अंग्रेज-संस्कृति' कहते हैं। इस संस्कृति से किसी खास मत-सम्प्रदाय का, या किसी खास दल का कोई खास सम्बन्ध नहीं है। सभी मत-मजहब और सभी दलों की संस्कृति एक है। यह संस्कृति धारा-प्रवाह से चली आ रही है। उसके बाद में स्वतः बहुत परिवर्तन हुए हैं। परन्तु वह पहले भी एक थी और अब भी एक है। इसी तरह जापान एक देश या राष्ट्र, वहाँ बसने वाली जाति (नेशन) 'जापानी' और जापानी संस्कृति का 'अपना' एक रूप। जापान के बौद्ध, ईसाई या किसी भी सम्प्रदाय के लोग इस सांस्कृतिक एकता के कारण भिन्न नहीं जान पड़ते। 'सूर्य भगवान का रथ' इस संस्कृति में सब मानते हैं। वहाँ शिन्तो धर्म आदि भी है। बुद्ध के दाँत (बुद्ध की जन्मभूमि, भारत की भाषा [illegible] धर्म-ग्रन्थ, संस्कृत आदि) रखते हैं, यदि जिज्ञासा हो तो खोजते हैं। नहीं तो, अपनी रीति-भाषा में ही कुछ लिख

पढ़ते-सुनते हैं। जो लोग पाली-संस्कृत पढ भी लेते हैं, वे भी अपने बच्चों के जीवन मे उसे (संस्कृत या पालि को) नहीं उतारते। वे अपने बच्चों के नाम भी संस्कृत या पालि मे रखे, यह बात नहीं है। नाम अपनी चीनी भाषा मे। यही स्थिति वहा के मुसलमानों की है। आठ-दस करोड मुसलमान चीन मे हैं, परन्तु कहीं किसी का नाम 'अब्दुल मजीज' या 'रफी अहमद' जैसा न मिलेगा। सब के नाम चीनी भाषा मे हैं। रहन-सहन, वेश-विन्यास और खान-पान भी एक। यानी, वहा बौद्ध, कन्फयूशस, मुसलमान, या ईसाई आदि को आप पृथक् पहचान नहीं सकते, जब तक वह स्वय अपना 'मत' प्रकट न करें। जैसे कि अपने यहा वैदिक सनातनी आर्यसमाजी, शैव, वैष्णव आदि तथा अवैदिक जैन, बौद्ध आदि पहचान मे नहीं आते। नाम-रूप से कोई भेद नहीं जान पडता। यह अभेद सास्कृतिक है। संस्कृति ही 'एक राष्ट्र' बनाती है।

'मत' और संस्कृति मे बडा अन्तर है। संस्कृति के समुद्र मे न जाने कितने मत-मजहब लहरों के समान प्रकट होते रहते हैं और मिटते रहते हैं। 'मत' का सबन्ध तो 'मन' से है। हम अपने मन मे समझते हैं कि ईश्वर है तो हमारा 'मत' ईश्वरवादी। और हमारा मन ईश्वर की सत्ता नहीं मानता, तो हमारा 'मत' अनीश्वरवादी। यह 'मत' या मन की बात संस्कृति से भिन्न है। एक ही संस्कृति के ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी को आप पहचान कर अलग - अलग नहीं कर सकते, जब तक वह अपने मन की बात प्रकट न करे। परन्तु भिन्न संस्कृतियों के दो ईश्वरवादियों को आप झट पहचान कर अलग-अलग कर सकते हैं, यदि उनमे सांस्कृतिक एकता न आ पाई हो। यही कारण है कि इस देश के ईश्वर-

यहाँ हिन्दू और मुसलमान अलग-अलग दिखाई देते हैं। 'मत' (ईश्वरवाद) तो मन की चीज है। नाम-रूप से उसका कोई सम्बन्ध नहीं। सो, सांस्कृतिक भेद से दोनों में भेद स्पष्ट है। एक जगह भारतीय संस्कृति है, दूसरी जगह अरबी-ईरानी संस्कृति। यह और बात है कि भारत की अपनी (भारतीय) संस्कृति में कुछ चीजें, समय से, अरब-ईरान आदि की भी आ मिली हों और अरबी-ईरानी संस्कृति भी भारत में कुछ भारतीयता से प्रभावित हुई हो, परन्तु पृथक् दोनों चल रही हैं।

इस संस्कृति-पार्थक्य का कारण क्या है? इस पार्थक्य ने क्या राष्ट्र का हित किया है? क्या इस स्थिति रहने से आगे हित-सम्भावना है? सब एक संस्कृति के क्यों नहीं हो जाते? यह भेद-भाव मिटा क्यों नहीं देते? हिन्दू और मुसलमान अलग क्यों दिखाई देते हैं? यह कैसे पहचान से जाना जाता है कि यह हिन्दू है और यह मुसलमान? यह भेद-भाव क्या राष्ट्र के लिए हितकर है?

स्वराज्य प्रतिष्ठित होने पर मेरे मन में यह सब आया। मैं ने सोचा, भारतीय संस्कृति की चर्चा चलाने के लिए एक [illegible]

कि और सब लोग। स्वामी जी अपने इसी आश्रम ('सत्यज्ञान-निकेतन') मे रहते हैं। मैं ने उन से पूछे बिना ही 'सभा' से बात-चीत की। 'सभा' ने मेरा प्रस्ताव मान लिया और दो सौ रुपए प्रारम्भिक खर्च के लिए, मैं ने जो मागे थे, भेज दिए। मैं ने सामाचार-पत्रों मे सूचना छपाई और विद्वानो के पास निमंत्रण भेजे। राजर्षि टडन तथा डा० अमरनाथ भा आदि ने मुझे समर्थन दिया। काम आगे बढे कि इतने ही मे सभा' से पत्र आया कि इस समय साम्कृतिक-सम्मेलन करना ठीक नहीं है। सम्भव है, 'सभा' के सचालकों को मेरी' सस्कृति का पता चल गया हो और उन्हों ने इसे नापसन्द किया हो। यह भी सम्भव है कि स्वामी सत्यदेव ने कुछ लिखा हो। शायद और ही कुछ कारण हो, पर सभा ने अपना संरक्षण हटा लिया।

'सभा' के हट जाने पर भी मैं वैसा सम्मेलन करता, परन्तु इसी बीच महात्मा गाधी हमारे बीच से उठ गए! इम मे एक 'व्यक्ति' अपराधी था, दो-चार उस के सहायक थे, जिन को बाद मे अदालती सजा मिली। परन्तु उस समय नेहरू जी को इतना क्रोध आया कि विवेक खो बैठे। देश भर से बीसों हजार लोगों को पकडवा कर जेलों मे बन्द करा दिया— न कोई मुकदमा न पैरवी। जिस मे कुछ विशेष हिन्दूपन देखा, या जिसके विचार काग्रेस से भिन्न देखे, पकड कर जेल मे डाल दिया। स्थानीय काग्रेस-जनों की सलाह से यह पकड़-धकड हुई थी। मुझे भी पकड लिया गया और सीधे जेल भेज दिया गया। मजा यह कि मैं ने सन १६१६ से लेकर उस समय तक कांग्रेस के झडे के नीचे राष्ट्रीय सेवा की थी, सभी आन्दोलनों मे खुल कर और डट कर भाग लिया था और इस के

लिए मुझे सब तरह की सजाएँ मिली थीं। यह सब देखने-जानने वालों ने ही मुझे इस लिए जेल में डलवा दिया था कि मैंने उजड़े हुए पंजाबी भाईयों को बसाने में कुछ मदद की थी और इस में बाधा डालने वालों का मुकाबला किया था। यही मेरा अपराध था। न मैं कभी हिन्दूमहासभा का सदस्य हुआ था, न 'राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ' से कोई सम्बन्ध था, न ऐसी संस्थाओं के किसी जलसे-जलूस में ही तब तक सम्मिलित हुआ था। खैर, जेल चला गया।

जेल मे ही मैं ने समाचार-पत्रों में पढ़ा कि प्रयाग-मेले मे राजर्षि टंडन कोई सांस्कृतिक सम्मेलन कर रहे हैं। वह सम्मेलन वहां हुआ और उसका विवरण मैं ने पढ़ा। जान पडा कि संस्कृति के सबन्ध में राजर्षि टंडन का मत भी भिन्न है। महर्षि पं० मदनमोहन मालवीय जो कुछ सनातनधर्म-सम्मेलन में कहा-किया करते थे, प्राय वही सब राजर्षि टंडन के सांस्कृतिक सम्मेलन में हुआ। इस सांस्कृतिक संस्था को राजर्षि ने स्थायी संगठन का रूप दिया, पर आगे कुछ खास काम हुआ नहीं। अधिवेशन होते रहते हैं।

वैसा संगठन बनाने की शक्ति मुझ में नही हैं, विचार भर दे सकता हूं। मैं ने सुना-'हिन्दुस्तानी बिरादरी' नाम की संस्था कुछ लोगों ने बनाई है। कुछ आशा बँधी कि इस संस्था के द्वारा शायद हिन्दू-मुसलमानों में सांस्कृतिक एकता लाने का उद्योग किया जाए। परन्तु बेकार। वे ही 'ढाक के तीन पात'। एक बिरादरी जिस दिन बन जाएगी, देश का सौभाग्य जाग उठेगा। परन्तु यहा तो उलटी दिशा लोग पकड़ते हैं। 'हिन्दुस्तानी बिरादरी' में भी वे दो तत्त्व स्पष्ट अलग दिखाई देते हैं।

इधर मेरे साहित्यक मित्रों ने भी सांस्कृतिक विचार-धारा

प्रकट की है। ऊँची-ऊँची परीक्षाओं में 'सस्कृति' भी एक विषय बन गया है। परन्तु गाडी वहीं है —जरा भी आगे नहीं बढी। सस्कृति का स्वरूप ही स्पष्ट नहीं हुआ। यहा तक लिख देते हैं कि सस्कृति की स्पष्ट परिभाषा करना सम्भव नहीं है।' हद हो गई। यदि ऐसा ही है, तो फिर ये पोथे क्यो रचे जा रहे हैं? सस्कृति की स्पष्ट परिभाषा इस ग्रन्थ मे मिलेगी। इसी लिए यह उद्योग है। जो कुछ अन्य सास्कृतिक ग्रन्थों मे और महा ग्रन्थो मे लिखा गया है, उसका पिष्ट पेषण यहा न होगा। लोगों ने इतिहास, मत-मज़हब और धर्म-सम्प्रदाय आदि के बयानों के जमघट को और उन के इतिहास कोसस्कृति-ग्रन्थ समझ लिया है। यह गलत बात है।

भारतीय सस्कृति के चार युग बीत चुके, पॉचवॉ शुरू है। इन सास्कृतिक युगो को हमारे मित्र श्री 'दिनकर' जी ने 'अध्याय' नाम दिया है। मैं ने भी उन्हीं का अनुसरण किया है। इस पुस्तक मे इस वर्तमान (पाचवें) अध्याय के बारे मे ही विशेष रूप से कहा जाएगा। चार पिछले अध्याय तो समाप्त हो चुके। उनमे जो गलती हुई है, उसे इस पॉचवें अध्याय मे सुधार लेना चाहिए। इसी ओर इस पुस्तक का प्रयत्न है।

चार अध्याय

सस्कृति के पिछले चार अध्याय साफ हैं — पहला अध्याय, वैदिक और द्रविड मिलन, या आर्य-द्रविड संगम। दूसरा अध्याय—भारतीय सस्कृति मे शक हूण आदि का मिलन। तीसरा अध्याय भारतीय सस्कृति से अरबी-ईरानी तुर्की सस्कृतियों का सघर्ष और परस्पर एक दूसरी से इनका प्रभावित होना। चौथा अध्याय-भारत मे अंग्रेजी राज्य और ईसाइयत का प्रचार। पांचवॉ अध्याय अब शुरू है, स्वराज्य मे—सांस्कृतिक पर्य्य-

वेक्षण और एकता के लिए प्रयत्न।

हम बौद्ध संस्कृति को पृथक् नहीं मानते। वह भारतीय संस्कृति है। हाँ, भारत के बौद्धों की भारतीय संस्कृति है, जापान के बौद्धों की जापानी संस्कृति। चीन के बौद्ध चीनी संस्कृति के है। यानी मजहब और चीज है, संस्कृति और चीज।

इस पुस्तक मे चार अध्यायों का सामान्य दिग्दर्शन होगा और पाचवें का कर्त्तव्य-निरूपण। चार अध्याय तो पाचवे अध्याय की भूमिका या पूर्वपीठका भर हैं। परन्तु भूमिका या पूर्वपीठिका ही तो आधार है। उसी के सहारे आगे की चीज है।

मुझे पता है, इस पुस्तक से एक हलचल मचेगी। पुस्तक की सफलता भी इसी मे है। सांस्कृतिक एकता के लिए कबीर, अकबर, नानक, गांधी आदि एक से एक बड़े महात्मा ने जान की बाजी लगा कर उद्योग किया, पर सफलता किसी को न मिली। इस का कारण क्या है? इसी की खोज इस पुस्तक मे है। संस्कृति की खोज। *'डिस्कवरी आफ कल्चर'*

कनखल (उ०प्र)
श्रावणी २०१३ वि० } —किशोरीदास वाजपेयी

समर्पण

उन राष्ट्रीय तत्त्वो को, जो इस युग मे भय और प्रलोभन से ऊँचे उठ कर अपने कर्तव्य का पालन कर रहे है।

— लेखक

संस्कृति का पाँचवाँ अध्याय

(१)

संस्कृति का स्वरूप



संस्कृति है क्या चीज, इस पर पहले विचार करना है। 'संस्कार' और 'संस्कृति' सगे भाई-बहन हैं, यानी एक ही धातु से, एकही उपसर्ग से एक ही प्रक्रिया से ये दोनों शब्द बने हैं; पर अर्थ में किञ्चित् भेद हो गया है। अर्थ-भेद न होता, तो शब्द-भेद ही क्यों होता ? 'अर्थभेदात् शब्द-भेदः' या 'शब्दभेदात् अर्थभेदः'। 'दुर्गति' और 'दुर्गमन' में अन्तर है।

'संस्कार' शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं— १- परिष्कार और २- संसर्गजन्य प्रभावविशेष। 'भाषा-संस्कार' का अर्थ है भाषा का परिष्कार। 'इस के संस्कार ही ऐसे हैं कि किसी की बात का असर नहीं पड़ता !' यहां 'संस्कार' का मतलब 'परिष्कार' नहीं, प्रत्युत किसी के संसर्गजन्य विचारों का या विकारों का प्रभावातिशय है। आप किसी वस्त्र में चमेली के फूल या छिला हुआ लहसुन अलग-अलग लपेट कर रख दें। घंटा-दो घंटा रहने दें। फिर फूल-लहसुन अलग कर दें। ये दोनों चीजें अलग होने पर भी कपड़े में चमेली की सुगन्ध और लहसुन की दुर्गन्ध बनी रहेगी। फूलों का या लहसुन का संस्कार कपड़े में

रह गया। इस 'सस्कार' को 'परिष्कार' न कहा जाए गा। कुछ इसी अर्थ को लेकर 'सस्कृति' शब्द चला है। किसी जाति का जीवन बहुत लम्बा होता है--हजारों वर्षों का—पचास-पचास हजार वर्ष और इससे भी अधिक का। एक जाति मे जन-सख्या भी बहुत होती है—लाखों करोड़ों। तो, इतने लोग परस्पर भिन्न-वृत्ति-प्रवृत्ति के होते हुए भी कुछ बातो मे एकसे होते है—उनकी कुछ बातें एक-सी होती है। एक घर मे बहुत से व्यक्ति होते है, भिन्न-प्रकृति-प्रवृत्ति के। परन्तु वे सब रहन-सहन, खान-पान आदि मे एक-से होते है। जाति की भी यही स्थिति है। एक घर के व्यक्तियों की परस्पर जो स्थिति है, वही एक जाति के लाखों करोड़ों जनों की भी। एक जाति के सब घर और कुटुम्ब अलग-अलग होने पर भी कुछ बातो मे एक होते है। तभी तो एक जाति होती है। इसे कुछ अच्छी तरह समझ लेना चाहिए।

घर का एक दायरा होता है, उसी तरह एक देश या राष्ट्र का भी। किसी घर मे जो पैदा हो जाता है, वह उस की सम्पत्ति-समृद्धि का मालिक या हिस्सेदार कुदरती तौर पर बन जाता है। इसी तरह जिस देश मे जिसका जन्म होता है, उस पर उसका स्वत्त्व स्वत सिद्ध है, जन्म सिद्ध अधिकार है। तभी तो लोकमान्य तिलक ने कहा था—'स्वराज्य हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है'। घर पर जब विपत्ति आती है, तो सब के ऊपर पडती है। देश पर आई हुई विपत्ति भी सबको भोगनी पडती है। एक घर मे पैदा हुए लोग कुटम्बी कहलाते है और एक देश या राष्ट्र मे पैदा हुए लोगो का समष्टि नाम 'जाति' है। 'जाति' का सम्बन्ध जन्म से ही है। जिस धातु से 'जन्म' बना है, उसी से 'जाति' की भी निष्पत्ति है। एक घर के लोगों मे भी परस्पर कुछ भेद होता है, स्थिति मे भी भेद होता है। कोई

समाज में अत्यधिक सम्मान पा लेता है, ऊँचे पद पर पहुंच जाता है और कोई साधारण स्थिति मे ही रह जाता है। कोई बहुत नीचे भी गिर जाता है। परन्तु सबका कुटुम्ब एक ही है। उच्च स्थिति के सदस्य से कुटुम्ब का सम्मान बढ़ता है और नीच से अपमान भोगना पड़ता है। इसी तरह राष्ट्र के—जाति के—किसी एक ही सदस्य से सब का सिर ऊँचा हो जाता है। और एक ही से नीचा भी हो जाता है। एक घर के व्यक्तियों के काम जैसे अलग-अलग होते हैं, उसी तरह जाति के लोग भी अलग अलग काम करते हैं—अलग-अलग स्थिति भी उन की होती है। परन्तु जाति से सब एक हैं।

उदाहरण लीजिए। हिन्दू जाति है, जिसमें हजारों वर्ग हैं, जिन का समावेश चार वर्णों मे किया गया है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सब एक जाति के हैं—सब का जन्म हिन्दुस्तान मे हुआ है। सब के संस्कार एक-से है—सबकी संस्कृति एक है। ब्राह्मण से लेकर भंगी तक, सभी वर्गों के हजारों स्त्री-पुरुष कहीं खड़े कर दीजिए और फिर किसी दूसरी जगह के व्यक्ति को सामने ला कर खड़ा कर दीजिए, जो उन्हें पहले से जानता न हो। फिर उस से कहिए कि इस समूह से ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, लुहार, चमार, भंगी आदि वर्गो के व्यक्तियों को छाँट कर अलग कर दीजिए, तो वह सौ जन्मों में भी वैसा न कर सकेगा। क्यों? इसलिए कि वे सब एक जाति के हैं— सब हिन्दू हैं। सब की संस्कृति एक है। अच्छा, रूप से न सही, नाम-भेद से वह सब को प्रथक् प्रथक् वर्गश पहचान सकेगा? हर्गिज नहीं। ब्राह्मण कहेगा—मेरा नाम केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। भंगी भी कहेगा—नाम मेरा केशव, बाप का नाम रामचन्द्र। ब्राह्मण की लड़की भी सावित्री, सुशीला और भंगी की भी

लड़की सावित्री सुशीला। तब कैसे वर्ग-भेद होगा? वे सब एक जाति के लोग काम अलग-अलग करते हैं, बस! गरीब अमीर की स्थिति देखकर भी वर्ग-भेद पहचानना असम्भव है। सस्कृति की एकता ने एक जाति बना दी है। एक जाति मे अनेक मत मजहब होते हैं। उस एकत्रित समूह मे वैदिक सनातनी आर्य-समाजी, वैष्णव, शैव सभी तरह के लोग होंगे और अवैदिक, जैन, बौद्ध आदि भी। कुछ 'ला-मजहब' और नास्तिक भी होंगे। क्या कोई पहचान सकता है कि आर्यसमाजी कौन है और जैन कौन है? आस्तिक और नास्तिक (जाति में) सब एक हैं। संस्कृति की एकता उन्हें पृथक् नहीं होने देती। उन का वर्गश या मतश पार्थक्य जातीय एकता का बाधक नहीं हो सकता, क्योंकि एक जाति की एक ही संस्कृति होती है और सास्कृतिक एकता सब को एक किए रहती है।

किसी जाति की सस्कृति बहुत लम्बे अरसे से चले आ रहे पुरखो के जीवन-प्रवाह के समुदित संस्कार ही हैं। वे संस्कार जाति-जीवन मे इस तरह घुल-मिल जाते हैं कि उन्हें कोई अलग कर नहीं सकता। वे संस्कार विचार में, आचार मे, भाषा में, वेश-विन्यास मे, खान-पान मे, सर्वत्र अपनी अमिट छाप रखते हैं,। यही संस्कृति है। एक संस्कृति से एक जाति की पहचान हो जाती है। एक हिन्दू ससार के किसी भी भाग मे चला जाए, विशेषज्ञ जन पहचान लेंगे कि यह हिन्दू है। जो लोग हिन्दू जाति की सस्कृति से परिचित नहीं, वे कुछ न समझ पाएँगे। परन्तु कोई विशेषज्ञ भी यह नहीं बता सकता कि यह जन ब्राह्मण है, या कायस्थ है, या भंगी है। कारण, ब्राह्मण-भंगी आदि पृथक् जातियां नहीं, वर्ग हैं। इसी तरह बढ़ई-लुहार आदि जातियां नहीं वर्ग हैं। लोग भूल से इन्हें पृथक्-पृथक् जाति

कहते-समझते हैं। यदि ये पृथक् जातियाँ होतीं, तो इनकी संस्कृति पृथक् होती और संस्कृति-पार्थक्य से वे पृथक्-पृथक् सरलता से पहचाने भी जा सकते। ऐसा है नहीं। एक जाति है, एक नेशन है। इस जाति (या नेशन) का अपना राष्ट्र है— हिन्दुस्तान, भारतवर्ष।

'हिन्दू' न सही, 'हिन्दुस्तानी' सही

ऊपर हमने बताया कि हिन्दू एक जाति का नाम है, किसी मजहब या वर्ग का नहीं। परन्तु तो भी, कुछ लोग 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे हैं। पूछो, इस मजहब को किस ने चलाया? वेदों ने? तब जैनों को क्या कहा जाए गा? कलकत्ते के बाबू पद्मचन्द्र जैन बहुत दिन तक हिन्दूमहासभा के मंत्री रहे। बौद्ध भी वेद नहीं मानते, परन्तु बरमा के बौद्ध 'भिक्षु उत्तमा' हिन्दूमहासभा के अध्यक्ष थे। हिन्दुओं में ला-मजहब और नास्तिक भी हैं— सदा रहे हैं। इन्हें कभी किसी ने 'गैर-हिन्दू' नहीं कहा। तब 'हिन्दू' एक मजहब कैसे? अधिक से अधिक कहा जाए गा कि—

'जो (हिन्दुस्तान न सही) भारतवर्ष से बाहर पैदा हुए ईश्वरीय दूत (पैगंबर) हजरत ईसा या हजरत मुहम्मद साहब के मत को नहीं मानते, वे सब हिन्दू हैं।"

हम निषेधात्मक परिभाषा माने लेते हैं और 'हिन्दू' तथा 'हिन्दुस्तान' की जगह 'भारत' तथा 'भारतीय' कहेंगे। भारत एक देश या राष्ट्र और 'भारतीय' एक जाति। 'भारतीय' जाति की एक संस्कृति-'भारतीय संस्कृति'। अब इस संस्कृति के कोई भेद न होंगे। बौद्ध संस्कृति, जैन संस्कृति, वैष्णव संस्कृति, नास्तिक संस्कृति जैसे काल्पनिक भेद उपहासास्पद हैं। 'लुहार-संस्कृति' और 'बढ़ई-संस्कृति' भी मजाक है। इसी तरह

'हिन्दू संस्कृति' और 'मुस्लिम संस्कृति' के भेद न होंगे। एक 'भारतीय संस्कृति'। बंगाल के (स्वर्गीय) राज्यपाल श्री हरेन्द्र कुमार मुकर्जी ईसाई थे। उन्हें या उनकी गृहिणी को देख कर क्या कोई पहचान सकता था कि ये ईसाई हैं? असम्भव। मैं ने उनके दर्शन कलकत्ते में एक सांस्कृतिक समारोह में किए थे। सफेद चुन्नटदार धोती, कुर्ता और बस। श्रीमती मुकर्जी एक सादी साड़ी पहने थीं। परन्तु मुकर्जी साहब ईसाई पक्के थे। जन्म भर एक मिशन में काम किया था और मृत्यु पर ईसाई-पद्धति से अन्त्य क्रिया उनकी हुई थी। बम्बई के भूतपूर्व राज्यपाल श्री महाराजसिंह भी ईसाई हैं। राजकुमारी अमृतकौर भी ईसाई हैं। इन लोगों के नाम-रूप से कोई भी इन्हें हिन्दुओं से भिन्न नहीं कर सकता। ये भारतीय जाति के हैं, मजहब से ईसाई हैं। कांग्रेस के प्रथम अध्यक्ष श्री व्योमेशचन्द्र चक्रवर्ती भी ईसाई थे। यहाँ (गुरुकुल कांगडी के जलसे पर) एक बडे विद्वान ईसाई पादरी आर्य-समाज का खण्डन करने आए थे—'पं० जगन्नाथ राव'। उनके लडके का नाम 'पं० कृपानाथ राव'। "राव" मराठा ब्राह्मण होते हैं। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से घर का हाल पूछा। ईसाई हो जाने के बाद उन का विवाह जिस स्त्री से हुआ, वह जन्मना मुसलमान थी और ईसाई हो जाने पर भी उसका पूर्वनाम ('हमीदा') बदला नहीं गया था। पं० जगन्नाथ राव ईसाई मजहब के बडे कट्टर प्रचारक थे। हरिद्वार में भी एक मिशनरी केन्द्र है। यहीं वे बस गए थे। उनका लड़का 'कृपानाथ राव' स्कूल में मेरा शिष्य रह चुका है, अब सेना में अच्छे पद पर है। पं० जगन्नाथ राव की लडकी का नाम 'मृदुला' था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से पूछा—'आप ईसाई हो जाने के बाद भी 'राव' हैं?' बोले—'मजहब बदला है, या पुरखे भी बदल दिए?' उत्तर बहुत ठीक था। ज्वालापुर-महाविद्यालय

महाविद्यालय के आचार्य प० नरदेव शास्त्री भी 'राव' हैं। इनका अपना असली नाम 'नरसिंह राव' है। लाहौर में इनके विद्यागुरु आर्य-विद्वान् ने 'नरदेव' नाम कर दिया था। मैं ने पं० जगन्नाथ राव से कहा—'तो फिर राव जी तो आप के ही वर्ग के हैं।' (महाविद्यालय मे पं० नरदेव शास्त्री को सब लोग 'राव जी' ही कहते हैं)। मेरे प्रश्न के उत्तर मे प० जगन्नाथ राव ने कहा—'हाँ हम दोनो 'राव' तो हैं, पर ये वेदों के माया-जाल मे पड़े हैं, मैं बाहर निकल कर प्रकाश मे आ गया हूं।'' मै ने पं० जगन्नाथ राव से विदेशी मिशनरियों के बारे मे भी बात-चीत की थी। मैं ने कहा – 'ये, लोग तो अराष्ट्रीयता फैलाते हैं। आप का इन से क्या मेल ?' उन्होंने कहा—'उन लोगों की जातीयता (नेशनेलिटी) जरूर भिन्न है, पर हम तो ईसाइयत के प्रचार मे साथ हैं। जातीयता में हम अलग हैं। जातीयता मे हम आप के साथ हैं। मजहब में अलग हैं।'

संक्षेप यह कि 'भारत' एक राष्ट्र 'भारतीय जाति' यानी 'भारतीयता' जाति और इस जातीयता को अभिव्यक्त करने वाली एक 'अपनी' संस्कृति है।

बाहर के लोग

जिस घर में जिसका जन्म होता है, वह उस पर स्वामित्व रखता है और अपने कुल की मर्यादा का ध्यान रखता है, अपने पुरखों के सस्कार लेकर चलता है। परन्तु ऐसा भी देखा जाता है कि किसी दूसरे घर मे पैदा हुए लड़के को लोग 'गोद' ले लेते हैं और वह इस नये घर मे आकर इसका मालिक बन जाता है। परन्तु गोद आए हुए लड़के को इस नये घर को ही 'अपना' घर समझना होता है। इसी घर के पुरखों को वह अपनाता है और इसी के आचार-विचार ग्रहण करता है।

परन्तु इस के मन में कदाचित् यह भी रह सकता है—रहना स्वाभाविक है—कि मैं इस घर में आ गया हूं, पर मेरा असली अपना घर तो वह है। यानी ममता उधर भी रहती है, रह सकती है। परन्तु इस (गोद आए हुए) लडके और लडकों के लड़के आगे उस की ममता एकदम छोड़ देते हैं, जहा से उनका वह पिता या पितामह गोद आया था। वे सुनी-सुनाई बातों से इतना जानते भर हैं कि हमारे पितामह अमुक जगह से गोद आए थे। और आगे चल कर वह स्मृति भी प्राय. नहीं रहती।

इसी तरह एक जाति किसी दूसरी जाति के घर में—उस के राष्ट्र में—पहुँच जाती है। वहां यदि पहुँच युद्ध आदि के द्वारा विजेता के रूप मे है, तो कुछ दिन तक गुप्त-प्रकट संघर्ष रहता है और फिर मेल हो जाता है। धीरे-धीरे यह नई आई हुई जाति नई जगह को अपना लेती है—उसी मे घुल-मिल जाती है और वह अनेकता पुन· एकता मे परिणत हो जाती है। ऐसी स्थिति मे 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'—बहुत्व के आधार पर नाम-रूप ग्रहण होता है। जो धारा पहले से प्रतिष्ठित है जो आधिक्य से भी है, उस का नाम-रूप रहता है। दूसरी उसी मे विलीन हो जाती है। ऐसा नहीं होता कि इस 'सगम' के बाद न 'गगा' और न 'यमुना' नाम रहे, वरन 'मिश्रित' नाम की कोई नई ही नदी बन जाए। यह भी नहीं कहा जाता कि प्रयाग मे गगा और यमुना दोनों समाप्त हो गई और एक तीसरी ही नदी बन गई और इस 'मिली-जुली' नई नदी का नाम 'इलाहाबादी' नदी रख दिया जाए। गगा मे प्रारम्भ से लेकर समुद्र पर्यन्त हजारों नद-झरने मिले है। और बीसों नदियां मिली हैं। दस-पॉच तो बडी बड़ी नदियॉ मिली है। परन्तु सब से बह मिली-जुली धारा रही आखिर 'गगा' ही।

इसी तरह भारतीय जाति मे—'इंडियन नेशन' में—बाहर से आ-आ कर शक, हूण आदि न जाने कितनी जन-धाराएँ मिलीं और खप गईं। आज कौन कहता है कि हमारे पुरखे शक या हूण थे? सब भारतीय रंग मे रँग गए। किसी को शकों या हूणों का वशज कह दो, तो वह गाली समझता है। मैं ने एक बार शब्द-व्युत्पत्ति के लिहाज से 'सक्सेना' तथा 'भटनागर' जनों को शकों आदि से कह दिया, तो लोगों ने बहुत बुरा माना। बुरा मानने की बात भी थी। भारतीयता के रंग में शराबोर कोई जन-वर्ग अपने को किसी पर-राष्ट्र से अनुस्यूत कैसे कह सकता है? दूसरा कोई वैसा कहे, तो वह बुरा क्यों न माने गा? मतलब यह कि शक-हूण आदि की चर्चा केवल इतिहास में है, यद्यपि उनके बड़े बड़े समुदाय यहाँ रहे और इस देश पर शासन किया। फिर घुल-मिल गए। किसी ने उन विजातीय जनों को 'भारतीय जाति' में मिलाने के लिए कोई उद्योग नहीं किया। कोई 'शुद्धि-सभा' नहीं बनाई गई। इतिहास मे ऐसा कोई जरा भी सकेत नहीं है। वे सब स्वत. भारतीय बन गए। अपने बच्चों के नाम भारतीय भाषा में रखने लगे यहां का रहन-सहन और आचार-विचार ग्रहण कर लिया और बस। मत-मजहब चाहे जो मानते रहो। एक जाति मे सैकड़ों मत-मजहब रह सकते हैं। कोई ईश्वर को मानता है, कोई नहीं मानता, दोनों ही 'भारतीय' हैं, यदि भारतीयता उनमें है। जब तक कोई विदेशी रँग-ढंग मे डूबा रहे गा, तब तक वह 'भारतीय जाति' या 'इंडियन नेशन' का न समझा जाए गा। हो नहीं सकता, कोई हजार कहना समझवा रहे।

शक और हूण आदि तो 'भारतीय' बन कर हम में

मिल-खप गए, पर आगे आने वाले कई जातियों के लोग न मिल सके—न मिले। मजहब की आड लेकर एक पृथक् संस्कृति का निर्माण कर लिया गया। जब दो संस्कृतियां हैं, तो दो जातियां बन ही गई। 'संस्कृति' और 'जातीयता' प्रायः एक ही चीज है। 'हिन्दूपन' और 'हिन्दू संस्कृति' एक चीज समझिए। 'हिन्दू' तो एक जाति, जिस मे हजारों मत-मजहब और वर्ग, या दल है। परन्तु 'इस्लाम' एक मजहब है, जाति नहीं। इस मजहब के आधार पर भारत मे एक नई संस्कृति का निर्माण किया गया, जिसे सब लोग 'मुस्लिम संस्कृति' कहते हैं। एक जातीय संस्कृति, या राष्ट्रीय संस्कृति और दूसरी मजहबी संस्कृति। तुर्क-संस्कृति, अरब-संस्कृति, ईरानी संस्कृति, चीनी संस्कृति आदि की तरह ही 'हिन्दू संस्कृति' है, राष्ट्रपरक, न कि मत-परक। 'हिन्दू संस्कृति' और 'भारतीय संस्कृति' पर्याय-शब्द हैं। दूसरे लोग जब 'हिन्दू' एक मजहब समझने लगे, तब 'भारतीय संस्कृति' शब्द चला। परन्तु 'मुस्लिम संस्कृति' के साथ-साथ 'हिन्दू संस्कृति' शब्द भी चलता ही रहा, चल ही रहा है और आगे चलेगा भी। शब्द कहाँ तक छोड़े जाएँगे। 'हिन्दू' भी भारतीय जनों को विदेशी जनों ने ही कहना शुरू किया था। इस शब्द का 'सिन्धु' से सम्बन्ध है, किसी मजहब से नहीं। इस लिए हमने—भारतीयों ने—इसे ही ग्रहण कर लिया। सिन्धु (सिन्ध नदी) से लेकर सिन्धु (पूर्वी-दक्षिणी समुद्र) पर्यन्त, समग्र भू-भाग, आगे चल कर 'हिन्द' कहलाने लगा। 'हिन्द' एक राष्ट्र और उस की जाति 'हिन्दू' जैसे 'नहर' से नेहरू'। जब हिन्दू' शब्द को लोग मजहब मे दाखिल करने लगे, तो 'हिन्दी' शब्द चला। परन्तु इस 'हिन्दी जाति' का निर्माण, या उस जाति का नया नाम होने पर भी वह पृथक् ही रही। जब दो संस्कृतियाँ,

तो दो जातियाँ, तब दो राष्ट्र। आगे चल कर इस भिन्न संस्कृति–मुस्लिम तहज़ीब—के आधार पर एक राष्ट्र के दो टुकड़े किए गए। बीच से नहीं, कहीं—कहीं से। जहाँ जहाँ 'मुस्लिम संस्कृति' या इस्लाम की प्रधानता थी, सब को काट-जोड़ कर एक नया राष्ट्र बना—'पाकिस्तान'।

परन्तु बचे हुए भारत में अब भी वह दूसरी संस्कृति है, उस संस्कृति के अभिमानी यहाँ कितने ही करोड़ हैं। ये लोग अब भी माँग करते हैं कि इस देश की भाषा इसी देश की लिपि (नागरी) में ही नहीं, फारसी लिपि में भी लिखी जानी चाहिए और इस भाषा में संस्कृत के नहीं, अरबी-फारसी-तुर्की आदि के शब्द रहने चाहिए। भिन्न-संस्कृति के अनुरूप ये लोग सभी बातों में भिन्नता बनाए हुए हैं। अभी परसों (ता० १७–८–५६) की बात है—अखबारों में छपी है कि मुहर्रम के दिन एक बहुत बड़ी मुस्लिम भीड़ ने एक मन्दिर के सामने 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' के नारे लगा-लगा कर आसमान गुँजा दिया। हैदराबाद आदि में पाकिस्तानी झंडा फहराने की कई घटनाएँ सामने आ चुकी हैं। भला इस्लाम से और 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' से क्या सम्बन्ध? कभी कोई अफगान या ईरानी मुसलमान भी 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' और 'अफगान मुर्दाबाद' के नारे लगाता है? कभी चीन के मुसलमानों ने भी, वहाँ के बौद्धों या ईसाइयों से झगड़ कर, 'पाकिस्तान जिन्दाबाद' या 'अरब जिन्दाबाद' के नारे लगाए हैं? असम्भव। उन लोगों में राष्ट्रीयता है, जातीयता है और मजहब उस (राष्ट्रीयता या जातीयता) पर हावी नहीं हो सकता। राष्ट्रीयता ही आगे बढ़ेगी। चीन बौद्ध देश है, बुद्ध की मान्यता वहाँ सर्वोपरि है। परन्तु इस का मतलब यह नहीं कि बुद्ध की जन्मभूमि (भारत) के वे

मानसिक गुलाम हों। वे सब चीनी पहले हैं, बौद्ध आदि बाद में। पुराणों से तो यह भी पता चलता है कि बौद्ध चीन ने बुद्ध के इस देश (भारत) पर सैनिक आक्रमण भी एक बार किया था। और यहां से पराजित होकर गया था और प्रतिज्ञा की थी कि "इस तरह राजनैतिक दृष्टि से आगे चीन कभी भी इधर मुँह न करेगा।" मतलब इतने से कि मजहब से ऊँचा दर्जा राष्ट्रीयता या जातीयता का है। जाति ही नहीं, तो मजहब कहाँ रहेगा ?

जो बात भारत में है, वही पाकिस्तान मे है। पश्चिमी पाकिस्तान से 'नापाक' लोगों को, तहस नहस करके, भगा खदेड दिया गया है और इस तरह यह भाग तो पाक हो गया है, पूरी तरह। परन्तु पूरबी पाकिस्तान मे अभी भी बहुत से भारतीय बने हुए हैं। ऐसा जान पड़ता है कि बँगला भाषा और बँगला लिपि का यह महत्त्व है। इस्लामिक सस्कृति वाले भी अपने काम मे बँगला भाषा और बँगला लिपि का प्रयोग करते है। यों दोनो जगह एक भाषा और एक लिपि है। इसी एकता के कारण करोड़-डेढ-करोड भारतीय अभी वहाँ हैं, यद्यपि धीरे-धीरे निकाले जा रहे हैं। यानी, पाकिस्तान के भी एक भाग मे अभी तक भारतीय सस्कृति है। इन दो संस्कृतियों का परिणाम वही हो सकता है जो होता आया है। हो सकता है कि कभी स्वतन्त्र राष्ट्र पाकिस्तान मे भी राष्ट्रीयता का उदय हो और फजलुल हक' उसमे अरबी नामों की जगह बँगला भाषा के शब्दों मे बगाली मुसलमान अपने बच्चों के नाम रखने लगें और अरबी-ईरानी रहन-सहन आदि की जगह बंगाली रहन-सहन आदि अपना लें। हो सकता है, सिन्ध और पजाब के मुसलमान भी अरब की

भापा मे नहीं अपनी (सिन्धी-पञ्जावी) भाषा में अपने वच्चों के नाम रखकर सिन्धी और पंजावी रहन सहन अपना लें। तव तो एक राष्ट्र, एक संस्कृति ठीक। सम्भव है भारत के मुसलमानों से पहले पाकिस्तानी मुसलमानों में राष्ट्रीयता का जागरण हो और वे 'अल्लाबख्श' की जगह 'ईश्वरदत्त' नाम से अधिक प्यार करें। मजहव तो मना नहीं करता। हजरत मुहम्मद साहव ने, या दूसरे किसी पैगंवर ने तो कहीं किसी हुक्म मे ऐसा कहा नहीं कि मुसलमान जहा पैदा हुआ हो वहाँ को भापा मे उस का नाम न रहे और वहा के रीति-रिवाज वह न माने। पाकिस्तान के मुसलमान स्वतन्त्रता का अनुभव करते हैं; इस लिए उन में राष्ट्रीयता का जागरण अधिक सम्भव है! तुर्क-नेता कमाल पाशा के हाथ में जव प्रभुसत्ता आई तो उसने अपने नाम का एक अंश वदल लिया था। 'पाशा' की जगह 'अतातुर्क' कर दिया था; इस लिए कि 'पाशा' अरव भापा का शब्द है; 'अतातुर्क' तुर्की भापा का है। इस जोर से राष्ट्रीयता को पकड़ने का फल यह हुआ कि तुर्कराष्ट्र ऐसा शक्तिशाली हो गया कि संसार उधर देखने लगा। कमाल अतातुर्क ने इस्लाम नहीं छोडा, उसकी और प्रतिष्ठा की, परन्तु राष्ट्रीयता का जय-घोष किया। इस्लाम का मतलव यह तो नहीं कि किसी दूसरे देश के मानसिक गुलाम वन जाओ।

परन्तु भारत में और पाकिस्तान में अभी वहुत संख्या उन लोगों की है, जो मजहव को राष्ट्र, राष्ट्रीयता और राष्ट्रीय संस्कृति से भी ऊपर मानते समझते हैं। हम यह भी मान लेते हैं, मजहव को सवसे ऊपर समझिए, परन्तु मजहव के नाम पर दूसरे देशों की मानसिक दासता तो मजहव नहीं है। दोनों चीजें अलग अलग हैं।

संस्कृति का यह पाँचवाँ युग या पाँचवाँ अध्याय भारत में चल रहा है, जिस मे पाकिस्तान भी सम्मिलित है। राजनैतिक या शासनिक दृष्टि से राष्ट्र के दो भाग हो गए हैं--संस्कृति-भेद के नाम पर। परन्तु वस्तुत दोनो भागों को सस्कृति एक है, जिसे आगे चल कर लोग समझे गे। इस पाँचवें सांस्कृतिक युग का यह सब से बडा महत्त्वपूर्ण काम है कि हम लोग सस्कृति का सही रूप समझ कर मिथ्याभिमान छोड दे। इससे 'एक जाति' का निर्माण होगा—एक जाति का महत्त्व समझ में आए गा—और राष्ट्र एक सूत्र में बँध कर तेजस्वी होगा।

सस्कृति के प्रादेशिक तत्त्व

किसी बहुत बड़े राष्ट्र के अङ्ग-उपाङ्ग (प्रदेश-मण्डल आदि-) इतने इतने बडे होते हैं कि ससार के छोटे-छोटे स्वतन्त्र राष्ट्रों को अपनी गोद मे बैठा सकते हैं। ऐसे बड़े राष्ट्रों मे एक भारत वर्ष भी है। ऐसी स्थिति मे जीवन का रहन-सहन और बोली-भाषा आदि में अन्तर आना स्वाभाविक ही है। यही अन्तर अवान्तर संस्कृतिभेद करता है। यदि अमरीका या रूस मे अपने भारत के कुछ बगाली कुछ पजाबी, कुछ मराठे और कुछ तामिल जन इकट्ठे कहीं दिखाई दे, तो कोई भी कह देगा-'ये हिन्दुस्तानी हैं'। परन्तु कोई भी विदेशी यह भेद न कर सके गा कि इन मे कौन बगाली है, कौन गुजराती। कोई ऐसी चीज जरूर है, जो बगाली और गुजराती आदि मे समान रूप से है। वही सामान्य वस्तु जाति-तत्त्व है। वह 'हिन्दुस्तानी-पन' है, हिन्दुस्तान की जातीयता या सस्कृति है कि लोग पहचान लेते हैं। वहाँ हिन्दुस्तानी मुसलमान मे भी कोई अन्तर न दिखे गा। इन मे भी हिन्दुस्तानीपन है, भले ही अन्तर कुछ हो। यह

तो हुई राष्ट्र की चीज।

परन्तु प्रत्येक प्रदेश अपनी विशेष स्थिति रखता है। उस स्थिति के अनुसार उस का सामाजिक जीवन ढलता-चलता है। उस विशेषता के कारण हम पहचान लेते हैं कि यह बंगाली है, पंजाबी है, या गुजराती है। परन्तु मत-मजहब या सम्प्रदाय आदि से कोई नहीं कह सकता कि यह वैदिक है, या अवैदिक, ईश्वरवादी है, या अनीश्वरवादी। प्रादेशिक संस्कृति सब में एक मिले गी।

इन विभिन्न प्रादेशिक तत्त्वों को एक सूत्र मे गूँथने वाली चीज है—राष्ट्रीयता, जातीयता, भारतीयता या भारतीय संस्कृति। भारतीय सभी (प्रादेशिक) भाषाओं को एक सूत्र मे लाने वाली है हमारी संस्कृत भाषा। पूर्व, पश्चिम और उत्तर भारत के विभिन्न प्रदेशों मे जो जन-भाषाएँ हैं, किसी न किसी प्राकृत-अपभ्रंश के परिवर्तित रूप हैं। सभी प्राकृत-अपभ्रंशों की उपजीव्य संस्कृत भाषा रही है और आज की सभी प्रादेशिक भाषाओं की उपजीव्य भी संस्कृत ही है। दक्षिण भारत की भाषाओं का उद्गम पृथक् है, ऐसा भाषातत्त्वविद् कहते हैं। जान भी यही पड़ता है। परन्तु आज की सभी दक्षिण प्रदेशीय भाषाओं पर संस्कृत का उतना ही प्रभाव है, जितना अन्य प्रदेशीय भाषाओं पर। यों संस्कृति की उपजीव्यता ने भारत की सभी भाषाओं मे एक-सूत्रता कायम कर रखी है।

सभी प्रदेशों के पहनावे में कुछ न कुछ अन्तर मिलेगा, पर तो भी कोई ऐसी चीज है कि सब एक जना-माने जाते हैं। स्त्रियों में धोती साडी के रंग-रूप प्रति प्रदेश भिन्न हैं, पहनने का ढंग भी भिन्न है, परन्तु तो भी सब भारतीय हैं। सिन्दूर की बिन्दी तो सभी प्रदेशों की सौभाग्यवती स्त्रियाँ मस्तक पर

लगाती ही हैं। कोई भी भारतीय स्त्री अरबी पहनावे मे न मिले गी। भारतीय शब्द का यहाँ तात्त्विक अर्थ लीजिए।

सबसे बडा और सुदृढ़ एकता-सूत्र है पुरखों का एक होना। सभी प्रदेशों के भारतीय अपने को याज्ञवल्क्य, वशिष्ठ, राम, कृष्ण आदि का वशज मानते हैं। एक पुरखे हैं, तब ऊपरी अनेक-रूपता अलग कैसे करे गी?

कुछ जातीय प्रतीक होते हैं, जो सब को एक किए रहते हैं। उदाहरणार्थ गौ के प्रति जो भावना-विशेष है, वह भी जबर्दस्त तत्त्व है, एक जातीयता के निर्माण मे। किसी भी प्रदेश का 'भारतीय' ऐसा न होगा, जिस की दूसरी भावना हो। जो अभारतीय तत्त्व हैं, उनकी बात अलग है।

वैदिक काल से अब तक हमारी सस्कृति में बहुत कुछ परिष्कार-परिवर्तन हुए हैं, बहुत मोड आये हैं, परन्तु धारा वही है। यह नहीं कहा जा सकता कि हमारा जो रहन-सहन आज है, वही वैदिक युग के हमारे पूर्वजों का था। उनकी भाषा मे और हमारी आज की भाषाओं मे कितना अन्तर है? परन्तु तो भी, हमे उस परम्परा का अभिमान है और हम उन पुरखों के नाम लेकर गर्व का अनुभव करते हैं।

एक जाति या राष्ट्र मे जो एक सूत्र होता है, सबको बाँध रखने वाला, वही सस्कृति है, यह कहा जा चुका है। जाति या समाज मे कुछ ऐसे भी तत्त्व होते हैं, जो कुछ अलग ही चलते हैं। यदि किसी देश मे मजहबी कट्टरता हुई, तो ऐसे तत्त्व एकदम नष्ट कर दिए जाते हैं—नष्ट कर दिए गए हैं, या देश से निकाल दिये गए हैं। परन्तु यदि राष्ट्र मे उदारता हुई, तो वे तत्त्व भी पड़े रहते हैं। वैदिक युग से ही भारत मे गौ को अधिक महत्त्व मिला। ऋषियों ने कहा कि तुम्हारा शिव (कल्याण) बैल

पर है। गौ को वेदों मे 'अघ्न्या' कहा गया है। यानी उसी समय से गोहिंसा जघन्य अपराध घोषित है। यह जाति-तत्त्व है। परन्तु इसके विपरीत, कुछ ऐसे भी कथानक है, जिनसे प्रकट है कि उस युग में भी ऐसे कुछ लोग थे, जो गौ को 'अघ्न्या' नहीं स्वीकार करते थे। परन्तु इन 'कुछ' लोगों से 'जाति नहीं बनती है। आज भी वैसे' कुछ' लोग हैं, हमारी हिन्दू जाति मे, जो गौ को 'अघ्न्या' स्वीकार नहीं करते और गो-भक्ति का मजाक उड़ाते हैं। परन्तु तेंतीस करोड़ की जन-संख्या मे ऐसे लोगों की संख्या तेंतीस से भी कम होगी, तेंतीस से आधे भी न निकलेंगे। परन्तु तो भी, एक-दो ऐसे प्रभावशाली लोग इन 'कुछ' लोगों में हैं, जिनकी विशेषता है और इतिहास मे जिनका नाम रहेगा। ऐसी स्थिति मे, इनके गोविषयक विचार यदि लिपिबद्ध कर दिये जाएँ, तो दो चार सौ वर्ष बाद लोग इस भ्रम मे पड़ सकते हैं कि भारतवर्ष मे दो-चार सौ वर्ष पहले गौ का महत्त्व ऐसा न था! इसी तरह हमारे पूर्वजों में भी कुछ वैसे खास व्यक्ति हो गए हैं। तो भी, वे और ये 'कुछ' लोग किसी दूसरी जाति के न हो जाएँगे, क्योंकि 'जाति' का संबन्ध जन्म से है। सबके पुरखे एक हैं। जब तक एक पुरखे हैं, उन्हें मानते हैं, तब तक विजातीय नहीं। एक जगह इधर-उधर हो जाने पर भी अन्य बातों में एक हैं। और, बहुमत की ओर लोग खिचते ही हैं। जो कल तक गौ के 'अघ्न्या' होने का मजाक उड़ाते थे, वे ही आज विधि-कानून बना रहे हैं कि "गौ अघ्न्या है। इसका हनन करने वाला अपराधी है और उसे सजा दी जाएगी।" यानी जातीयता नष्ट नहीं हो सकती, नष्ट नहीं की जा सकती, उसमें कुछ हेर-फेर जरूर होता है; सो भी स्वतः, धीरे-धीरे। सस्कार धीरे-धीरे बनते हैं, धीरे-धीरे बदलते हैं और धीरे ही धीरे नष्ट भी होने

हैं। पहले के सस्कार हटने में और दूसरे जमने में काफी देर लग जाती है। इसी लिए किसी जाति का कोई बड़ा समुदाय जब अन्यत्र स्थायी रूप से जा बसता है, तो वहाँ की सस्कृति लेने मे देर लगती है। संस्कार मन की चीज है। यदि मन उधर न हो और ऊपर-ऊपर कोई चीज ले ली जाए, तो वह चली जाएगी। टिकेगी नहीं।

विजातीयता से सघर्ष

विजातीयता से संघर्ष होता है। ऊपर हमने बतलाया कि एक जाति की एक सस्कृति होती है और एक राष्ट्र की एक 'जाति' होती है। यदि कोई अन्यजातीय जनसमुदाय किसी अन्य राष्ट्र मे जा बसता है, तो वह धीरे-धीरे वहीं घुल-मिल जाता है। परन्तु, यदि अपनी संस्कृति और जातीयता उसे अत्यधिक प्रिय है, तो फिर उससे विच्छेद सम्भव नहीं। अफ्रीका तथा लका आदि मे सामूहिक रूप से भारतीय जन बसे हुए हैं।--पुश्तों से बसे हुए है। परन्तु वे 'भारतीय' बने हुए हैं। उन्होंने अपना हिन्दुस्तानीपन नहीं छोडा है। इसके लिए उन्हें कष्ट सहने पड़े— सहने पड रहे हैं। वे वहाँ तंग किए जाते हैं, निकाले जा रहे हैं। अफ्रीका मे पिछले पचास वर्षों से यही सघर्ष चल रहा है। मजहब या सम्प्रदाय का सवाल नहीं, राष्ट्रीयता का सवाल है। अफ्रीका या लका के लोग यह समझ रहे हैं कि जरूरत पड़ने पर ये लोग हिन्दुस्तान का पच लेंगे यहाँ का नहीं। इसी लिए संघर्ष है। परन्तु अफ्रीका मे बसे अग्रेज लोग भारतवासियों को खदेड़ना चाहते हैं, यह देखने की बात है। जोर-जुल्म।

यदि किसी देश मे इक्का-दुक्का कुछ अन्य देश के लोग जाते बसते रहते हैं, तब वैसे सघर्ष की कोई बात नहीं उठती। कोई भय नहीं, कोई खटका नहीं। जब अधिक संख्या हो जाती

है और अधिकार का सवाल उठने लगता है, तब स्थिति बदलती है। भारतवर्ष में जो विभिन्न देशों से मुसलमान आए थे, वे यहाँ मिले नहीं। उनमे अपने पुराने राष्ट्रों की राष्ट्रीयता या या जातीयता का उतना जोर न था, जितना मजहब या सम्प्रदाय का और 'भारतीय' न बनने का हठ। फलतः तुर्क, अरब, ईरानी आदि सभी जातियों के मुसलमान मिल गए और सबकी एक संस्कृति बन गई, जिसको 'मुस्लिम संस्कृति' नाम दिया गया। यह मुस्लिम संस्कृति न तो अरब की संस्कृति, न तुर्की या ईरान की। सब गड्डमगड्ड, और फिर उसमे हिन्दुस्तानी रङ्ग। इस मुस्लिम संस्कृति ने संघर्ष किया और देश का बँटवारा करा लिया। यानी सस्कृति-भेद से संघर्ष प्रायः हो जाता है। यदि संस्कृति-भेद न हो, केवल मत-मजहब या सम्प्रदाय का भेद हो, तो फिर जातीय संघर्ष नहीं होता। एक ही जाति है, तब संघर्ष कैसा ! इसी लिए चीन मे कभी भी बौद्ध-मुस्लिम सघर्ष नहीं हुआ और जापान मे शिन्तो-बौद्ध संघर्ष नहीं हुआ।

सभ्यता और सस्कृति

यहाँ तक जो कुछ कहा गया, उससे संस्कृति का रूप स्पष्ट हो गया है। सभ्यता एक पृथक् चीज है। सभ्यता सबकी एक, संस्कृति अलग-अलग। किसी को तंग करना असभ्यता है, रास्ते मे कूड़ा फेंकना असभ्यता है और गंदा वातावरण रखना असभ्यता है। सभी देशों में, सभी जातियों में असभ्यता का एक ही रूप है। सभी जगह यह सभ्यता का रूप एक ही है। सो, सभ्यता और संस्कृति अलग-अलग चीजें हैं। संस्कृति संस्कार से बनती है और सभ्यता नागरिकता का रूप है।

धर्म सम्प्रदाय और सस्कृति

धारयति मानवीयम् जगत् इति धर्मः।

जो मानवीय जगत् की—मानवता की आधारशिला है, जिस पर मानवता टिकी हुई है, उसे 'धर्म' कहते हैं। हमारे धर्माचार्यों ने 'धर्म' का यह लक्षण किया है और उदाहरण के तौर पर 'अहिंसा, सत्य, अक्रोध, अस्तेय' आदि की विधि बताई है। ऐसी विधियों के अपवाद भी होते हैं—सभी विधियों के अपवाद हो सकते हैं। संसार के सभी सभ्य राष्ट्रों मे मानवता के आधार-स्तम्भ यहीं हैं। सहयोग-वृत्ति आदि इन्हीं के अनुसार -आधार पर हैं। हमारे धर्माचार्यों ने यह कहीं नहीं बतलाया कि 'मनु ने जो कहा है, वही धर्म है' या 'राम ने जो कहा या किया, वही धर्म है।' वह तो मत, मजहब या सम्प्रदाय है, जो किसी एक व्यक्ति के पीछे आँखें बन्द करके चलना। मनु ने तो कहा है कि बुद्धि से परीक्षा करके धर्म-अधर्म का निर्णय करना चाहिए। उन्होंने यह भी कहा है कि युग के अनुसार धर्म का रूप भी बदल सकता है। 'धर्म' शब्द 'कर्तव्य' के अर्थ मे है। इसी लिए राजधर्म, पितृधर्म, पुत्रधर्म आदि की व्याख्या की गई है—राजा के कर्तव्य, पिता के कर्तव्य, पुत्र के कर्तव्य आदि। देश, काल, पात्र आदि के अनुसार कर्तव्यों मे हेर-फेर हो सकता है। किस समय कैसी परिस्थिति आएगी कौन जानता है ? मनु जी को क्या पता कि आगे देश के सामने कैसी समस्याएं आएंगी और देश किस स्थिति मे पड़ जाएगा ! वहाँ तो अपनी ही बुद्धि काम देगी और कर्तव्य-अकर्तव्य का निर्णय करना पड़ेगा ! इसी लिए आचार्यों ने वैसी व्यवस्था दी है।

मत, मजहब या सम्प्रदाय अलग चीज है। बुद्ध के पीछे चलने वाले 'बौद्ध सम्प्रदाय' या 'बौद्ध मत' के हैं। परन्तु बुद्ध ने भी धर्माधर्म- निर्णय मे अपनी बुद्धि लगाने का उपदेश दिया है। केवल दिशानिर्देश भर कर दिया है कि 'बहुजनहिताय' काम

करो और दया का आधार लो। बस, इतना उनका 'मत' है। आगे बुद्धि को छूट है।

साधारणत: 'आचार' या 'आचरण' धर्म के भीतर आते हैं और प्रेरक विचार भी, जो आचार का निर्माण करें। जिन विचारों का आचार से सम्बन्ध नहीं, उनकी गिनती 'धर्म' में नहीं, 'दर्शन' में है। दर्शन-शास्त्र भिन्न भिन्न हैं। कोई दर्शन ईश्वर की सत्ता मानता है, कोई नहीं। भारतीय मुनियों के सुप्रसिद्ध छह दर्शनों में प्राय: आधे ईश्वरवादी हैं और आधे अनीश्वरवादी। ईश्वरवादियों मे भी परस्पर मत-भेद है। अनीश्वरवादी भी परस्पर विवदमान हैं। कोई सृष्टि-क्रम किसी तरह मानता है, कोई किसी तरह। इन दार्शनिक तत्त्व-विचारों का 'धर्म' से कोई सीधा सम्बन्ध नहीं। 'चोरी करना अधर्म है।' ईश्वरवादी यदि चोरी करेगा, तो वह भी 'अधर्मी' कहा जाएगा। ईश्वरवादी होने के कारण वह धर्मात्मा न हो जाएगा। 'जीवों पर दया करके उन्हें सुखी रखना चाहिए' धर्म है। एक अनीश्ववादी यदि दुखियों की सेवा मे अपने को लगा देता है—गला देता है, तो वह 'धर्मात्मा' कहा जाएगा। किसी भी मत-मजहब या सम्प्रदाय मानने वाला धर्मात्मा है, यदि वह धर्म का आचरण करता है। धर्म तो मानव मात्र का एक ही समझना चाहिए—सब का आचार एक है—'जियो और जीने दो।' देश-काल आदि के अनुसार थोड़ा-बहुत परिवर्तन और बात है। धर्म में सब मत-मजहब एक हो सकते हैं और एक संस्कृति में अनेक मत-मजहब या सम्प्रदाय हो सकते हैं, होते हैं। सम्प्रदाय या मत-मजहब का भेद परलोक-सम्बन्धी बातों मे होता है—ईश्वर कैसा है, वह कैसे मिलता है; इत्यादि। इन बातों का संस्कृति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सो, मत-मजहब या सम्प्रदाय एक चीज है और धर्म दूसरी चीज। संस्कृति इन दोनों से भिन्न चीज है।

(२)

आदि युग—आर्यद्रविड़ सम्मिलन

हम लोगों का विश्वास यह है कि हम आर्य जन मूलत इसी देश के निवासी हैं, परन्तु पाश्चात्य विद्वान् और कुछ 'अपने' विद्वान् भी यह कहते हैं कि आर्य जन बाहर कहीं से आए और यहा बस गए। वे द्रविड लोगों को यहा के मूल निवासी बतलाते हैं। यह भेद प्रायः भाषा की प्रकृति-प्रवृत्ति के अनुसार किया जाता है। भारत के पूर्व, पश्चिम, उत्तर और मध्य की भाषाएँ, 'आर्य भाषाएँ' कही जाती हैं। यानी पजाबी, हिन्दी, बंगला, उड़िया, गुजराती, मराठी, आदि भाषाएँ आर्य प्रकृति की हैं और दक्षिण की भाषाएँ एक भिन्न प्रकृति की हैं। उन्हें लोग 'आर्येतर भाषा' की सज्ञा देते हैं। इस लिए कि 'अनार्य भाषा' शब्द खटकने वाला है। किसी दाक्षिणात्य के आचार-व्यवहारको 'अनार्य' बतला कर देखिए कि क्या कहता है। 'अनार्य' शब्द को वह एक गाली समझता है।

खैर, मतलब यह कि 'आर्य' और 'आर्य्येतर' नाम के दो वर्गों मे भारतीय भाषाओं को रख कर यह निर्णय दिया गया कि आर्येतर (द्रविड़ या दक्षिणी) भाषाओं के बोलने वाले इस देश के मूल निवासी हैं और आर्य लोग बाहर से आकर यहाँ बस-जम गए। कालान्तर मे आर्य और द्रविड लोग मिल कर एक हो गए। दोनों की सस्कृति एक हो गई। आचार-व्यवहार मे तथा देवी-देवताओं की उपासना आदि मे भी आदान-प्रदान हुआ। यों एक 'भारतीय सस्कृति' बन गई;—न आर्य-सस्कृति, न द्रविड़

संस्कृति। परन्तु आर्य और द्रविड़ दोनों हैं भी। आर्य तो सभी हैं—सब अपने को 'आर्य' कहते हैं। आर्य जन ही बाद में 'हिन्दू' कहलाने लगे। अंग्रेजी का सब से अच्छा पत्र मदरास से जो निकलता है, उसका नाम 'हिन्दू' है—'द्रविड़' नहीं! आज कल तो 'द्रविड़' शब्द इसी तरह लिया जाता है; जैसे गुर्जर, उत्कल आदि। एक पंजाबी जन पंजाबी भी है, आर्य या हिन्दू भी। यही स्थिति सब की है।

मतलब यह कि आर्य चाहे बाहर कहीं से आए हों और चाहे यहीं के मूल निवासी हों, वे द्रविड़ों में और द्रविड़ उनमें घुल-मिल गए, यद्यपि उनकी भाषा प्रकृतित: कुछ भिन्न आज भी है। संस्कृत ने सब भाषाओं में एक-सूत्रता ला दी है।

यहाँ हमें एक बात प्रसग से कह देनी है। वह यह कि आर्य और अनार्य (पारसी) पुरखों में जो एक बड़े युग तक संग्राम चलता रहा, उसका सुविस्तृत उल्लेख 'देवासुर-संग्राम' के नाम से वेदों में तथा पुराणों में हुआ है। परन्तु 'आर्य-द्रविड़' संघर्ष या संग्राम की चर्चा कहीं नहीं मिलती! क्या कारण है? क्या संघर्ष हुआ ही नहीं? एक जाति बाहर से आए और पहले बसी हुई जाति को पीछे धकेल कर समुद्र तक ले जाए और उसका कहीं आभास भी पुराने ग्रन्थों मे न मिले, बड़े आश्चर्य की बात है। इससे भी बड़ा आश्चर्य यह है कि संघर्ष हुआ ही न हो!

जब इस देश में आर्य जम-बस गए और आर्य-साम्राज्य स्थापित हो गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं! जब राम जी दक्षिण भारत होकर लंका विजय करने गए, तब भी कोई संघर्ष नहीं! द्रविड़ जन कुछ तो छेड़-छाड़ करते! यह क्या बात है कि एकदम कहीं कोई चर्चा नहीं? यह विजातीयता का लक्षण तो नहीं है!

राम जब उधर गए, तो निःसन्देह एक दूसरी स्थिति थी। 'उत्तरापथ' और 'दक्षिणापथ' शब्द प्रसिद्ध है। दक्षिण-प्रदेश 'दक्षिणापथ' कहलाता था। उत्तर भारत और दक्षिण भारत के बीच में बहुत बडा घना जंगल था। आज का 'मध्य प्रदेश' जहाँ है, वहाँ भयंकर जंगल था। इस जगल मे कोल-भील आदि वन्य जन रहते थे। उत्तर भारत के साहसी और समाज सुधार के प्रेमी महान् ऋषि जन अपने परिवारों के साथ इन भीषण वनों में जा बसते थे और वन्य जनों को सीधे रास्ते पर लाने का प्रयत्न करते थे। वन्य जन इधर-उधर की आर्य-बस्तियों में लूट-पाट करते रहते थे। ऋषि जनों के प्रभाव मे आकर सुधर भी जाते थे। जब राम जी वन गए, तो इन लोगों ने कहा—'लेहि न बासन-बसन चुराई, इहै हमारि बड़ी सेवकाई'—आपका लटा-पटा हम नहीं चुरा लेते, यही हमारी बड़ी सेवा है। यह ऋषि जनो का प्रभाव था। 'शबर' नाम की भी एक वन्य जाति थी। इन पर भी ऋषियों का प्रभाव पडा था। एक वृद्ध शबरी ने राम का कैसा आतिथ्य किया था और राम ने भी उसे किस प्रेम से ग्रहण किया था, सब जानते हैं। इस तरह उन वन्य जातियों को मानव-संस्कृति मे ऋषि जन ला रहे थे, यद्यपि वे समय समय पर बड़े-बड़े खतरे भी उठाते थे।

ऋषियों को ये खतरे वन्य जातियों से वैसे नहीं आते थे, जैसे कि राक्षसों से। समुद्र पार लका नाम का एक बहुत बडा राष्ट्र उस समय था। वहाँ 'रक्ष-संस्कृति' थी। 'रक्ष' का अर्थ यही है कि रक्षा करने वाले, केवल आत्म-रक्षा करने वाले, यानी जो दूसरों पर आक्रमण न करें। 'रक्षस्' तथा 'राक्षस' भी कहलाते थे। परन्तु—ये लोग दूसरों पर आक्रमण किया करते थे। आज कल भी एक शब्द चल रहा है। सैनिक शक्ति को

'डिफेंस' अंग्रेजी मे कहते हैं—आत्म रक्षा का साधन। परन्तु आक्रमण दूसरों पर कैसे-कैसे होते हैं, हो रहे हैं, सामने हुए हैं, सो भी देखिए! फिर भी 'डिफेंस' है! 'इस्लाम' का अर्थ भी 'शान्ति' है न! इसी तरह 'रक्ष संस्कृति' थी। राक्षस जन समुद्र पार आकर भारतीय आर्य-साम्राज्य को अपने अधीन करने के मसूबे बाँध कर उद्योग करते थे। वे लोग द्रविड़ों को नहीं छेड़ते थे। द्रविड़ों और लंका वासियों की संस्कृति मिलती-जुलती अब भी है और लंका मे अब भी तमलि लोग काफी संख्या मे बसे हुए हैं। बहुत संभव है कि लंका से ही कुछ शान्तिप्रिय लोग इधर आ बसे हों और इसी लिए इन (द्रविड जनों) को राक्षस लोग उदासीन दृष्टि से देखते हों। पुराणों में कहीं भी उल्लेख नहीं कि दक्षिण के साथ शेष भारत का संघर्ष कहीं हुआ सुना नहीं कि द्रविडों ने (शेष) भारतीयों को सताया।

हाँ, तो लका के चतुर और साहसी राक्षस इधर आकर बस जाते थे। बीच के वन्य प्रदेशों को जैसे ऋषि जन प्रभावित करते थे, उसी तरह ये लंकावासी (और भारतप्रवासी) राक्षस अपने कब्जे में लाने का उद्योग कर रहे थे। बीच का इतना बड़ा प्रदेश अधीन-प्रभावित कर लेने पर फिर उत्तर भारत सर करना तो बहुत सरल था। नासिक के इधर-उधर तो लंका के बड़े अधिकारी खर-दूषण ने अपने पाँव अच्छी तरह जमा लिए थे। वहीं से वे कार्य-सचालन करते थे। इन की स्त्रियाँ भी साहसी थीं, काम करती थीं। राक्षस लोग यक्ष जाति से विवाह आदि भी करते थे। यह भी एक बड़ा षड्यन्त्र था। अयोध्या से कुछ ही पूर्व एक यक्ष-जनपद था। वहाँ का शासक एक यक्ष था। उसने अपनी लड़की 'ताटका' का विवाह एक प्रभावशाली राक्षस से कर दिया था, जिससे 'मारीच' नाम के राक्षस का जन्म

हुआ। मारीच में कुछ यत्त-(भारतीय) रक्त का भी जोर था और इसी लिए इसने वैसी प्रवृत्ति पाई थी। रावण को इसने बहुत समझाया बुझाया था, परन्तु था तो राक्षस ही। खून का बड़ा असर होता है। उस यत्त-प्रदेश का शासक यही मारीच होता और इसका लडका पूरा राक्षस होता। परन्तु विश्वामित्र ने पहले यही काँटा निकाला। ताटका को समाप्त करा दिया और मारीच जान बचा भागा। नासिक पहुँच कर राक्षस-मण्डल में मिल गया। काम भी किया, जब तक 'काम तमाम' राम ने कर दिया।

दक्षिण प्रदेश एकदम तटस्थ था। तभी बचा रहा, नहीं तो राक्षस लोग पीस डालते। द्रविड़ प्रदेश से पश्चिम कुछ दूसरे जनपद थे, जहाँ 'हरि-सस्कृति' और ऋक्ष-सस्कृति' थी। आज के महाराष्ट्र तथा सौराष्ट्र समझिए। ऐसा जान पड़ता है कि 'ऋक्ष' नाम की प्रतिद्वन्द्विता मे 'हरि' नाम रखा गया। 'सौराष्ट्र' 'महाराष्ट्र' नए नाम भी इसी तरह के जान पड़ते हैं। नक्षत्रों को 'ऋक्ष' कहते है। लका के लोग प्राय कृष्ण-वर्ण होते है और द्रविड़ भी प्राय इसी रग के। मराठों का रग वैसा नहीं होता, कुछ गेहुँआ सा होता है। कदाचित् इसी वर्ण-दृष्टि से इन लोगों ने अपने को 'ऋक्ष' (नक्षत्र) कहना शुरू किया हो। इस पर पडोसी लोगों ने अपने को 'हरि' कहना शुरू किया होगा। सूर्य-चन्द्र का नाम 'हरि' भी है। सस्कृत मे 'ऋक्ष' और 'हरि' नाम रीछों के और बन्दरों के भी है। बाद मे—या दूर के—लोगों ने इन दोनों शब्दो का गलत अर्थ समझा। भ्रम बढ़ा। इसी का परिणाम है नए नामों की कल्पना—महाराष्ट्र, सौराष्ट्र। जब हरि-प्रदेश और ऋक्ष-प्रदेश सुविस्तृत शेष आर्य-प्रदेश से मिल कर एक हो गए, तो 'महाराष्ट्र'-'सौराष्ट्र' नाम ठीक ही हुए। राष्ट्र से महाराष्ट्र। बहुत दिन बाद कहीं से गुर्जर और

जाट आए और बस गए, ऐसा लोग कहते हैं। ये पर्वतीय जन थे। गुर्जर लोग आगे बढ़े और 'गुजरात' बनाया।

इन 'ऋक्ष' और 'हरि' प्रदेशों पर भी राक्षस लोग आक्रमण करते रहते थे। अंगद-रावण संवाद में भी इसका जिक्र आया है। महाबली बाली ने रावण को खूब छकाया था। समय आया, जब राम जी के नेतृत्व में ऋक्षों ने और हरि जनों ने सदा के लिये काँटा दूर कर दिया। हरि-नरेश सुग्रीव और महान् हरि-सेनापति अंगद-हनुमान ने युद्ध-कौशल दिखाया, तो ऋक्ष इंजीनियरों ने अपनी कला का कौशल प्रकट किया। परन्तु लंका देश से बैर नहीं, उस व्यक्ति को मिटा दिया, उस का प्रभुत्व समाप्त कर दिया, जो बड़े बड़े सपने देख कर संसार को तंग कर रहा था। उसके भाई को ही वहाँ का 'सर्वप्रभुता-सम्पन्न' शासक बना कर सदा के लिए मैत्री स्थापित कर दी। परन्तु हमारा यह देश सीता-हरण के उस अपमान को नहीं भूला और प्रति वर्ष हम—ब्राह्मण लोग—रावण के पुतले में आग लगा कर अपनी भावना प्रकट करते हैं।

यह आश्चर्य की बात है कि लंका में भी प्राय. वही संस्कृति उस समय थी, जो कि भारत में, आर्य-जाति में। लंका में भी वर्ण-व्यवस्था थी। रावण भी ब्राह्मण था और वेदों का मार्मिक व्याख्याता था, शिव-उपासक था। जब लंका में वेद-प्रतिष्ठा और चातुर्वर्ण्य की व्यवस्था थी, तो भारत के द्रविडों में भी जरूर रही होगी। ऋक्ष तथा हरि जनों में भी व्यवस्था थी। उस समय संस्कृत अन्तर-राष्ट्रीय भाषा थी, जैसे आज कल अंग्रेजी है। परन्तु—अंग्रेजी की तरह—देश-देशान्तरों के एक विशिष्ट वर्ग में ही संस्कृत का पठन-पाठन था। साधारण जनों की प्रादेशिक भाषाएँ अपनी थीं। संस्कृत के अतिरिक्त, देश की एक कोई

जन-भाषा भी ऐसी थी जिसे देश भर के लोग समझते-बोलते थे। इसे साधारणत 'जन-भाषा' या 'मानुषी भाषा' कहते थे। संस्कृत 'देवभाषा' कहलाती थी, जैसे अंग्रेजी 'जेंटिल मैन'—भाषा। विशिष्ट जन 'द्विजाति' कहलाते थे—सुसंस्कृत जन। जब लंका पहुँच कर छिपे-छिपे सीता से बात-चीत करने की इच्छा हनुमान् ने की तो भाषा की समस्या सामने आई। हनुमान की हरि-भाषा सीता जी न समझ सकेंगी, यह निश्चय था। साथ ही न हुआ था। हनुमान जी अपनी भाषा के अतिरिक्त, देवभाषा तथा भारतीय जनभाषा भी जानते थे। उन्होंने सोचा कि संस्कृत मे बात करना ठीक नहीं, क्योंकि—

'रावणं मन्यमाना मा सीता भीता भविष्यति'

सीता समझेंगी कि यह रावण संस्कृत में बोल रहा है और वे डर जाएँगी। रावण भारत की जनभाषा से परिचित न था और इस लिए अन्तर-राष्ट्रीय (संस्कृत) भाषा में भारतीयों से बात करता था। भारत की उच्चकुलीन स्त्रियाँ संस्कृत से अभिज्ञ होती थीं। परन्तु हनुमान ने संस्कृत में वार्तालाप करना उचित न समझा और फिर 'मानुषं वाक्यम्' का माध्यम अपनाया।

निःसन्देह उस समय द्रविडों में भी वेद-सम्मान तथा वर्ण-व्यवस्था की प्रतिष्ठा रही होगी। आज भी वेदों का विधिवत् सस्वर पाठ जैसा दाक्षिणात्य करते हैं, वैसा अन्यत्र कहीं भी सुनने मे नहीं आता। बौद्ध मत ने जब भारत मे वैदिक धर्म और वर्णव्यवस्था की कमर तोड दी, तब दक्षिण प्रदेश सामने आया और शेष सम्पूर्ण भारत का गुरु बना। शंकर, विष्णुस्वामी निम्बार्क रामानुज आदि आधुनिक युग के प्रायः सभी धर्माचार्य दाक्षिणात्य थे। इस तरह दक्षिण भारत ने देश से आनृण्य प्राप्त किया—इधर से उधर जो कुछ कभी दिया गया था,

उसका भरपूर बदला चुका दिया। देश ने दक्षिण भारत का गुरुत्व स्वीकार किया। श्री शंकराचार्य के द्वारा प्रतिष्ठित मठ-मन्दिरों में अब तक दाक्षिणात्य ब्राह्मण ही पूजा-अर्चा करते हैं। वृन्दावन के श्रीरंग-मन्दिर के पुजारी भी दाक्षिणात्य (रामानुजीय वैष्णव) ब्राह्मण ही होते हैं। द्रविड़ों मे भी ब्राह्मणों के पाँच अवान्तर भेद उसी तरह हैं, जैसे उत्तर भारत में। 'पञ्च गौड़' और 'पञ्च द्रविड़' प्रसिद्ध हैं। संस्कृत साहित्य के प्रौढ़तम विद्वान् जैसे दाक्षिणात्यों में हुए हैं, वैसे शेष भारत में अन्यत्र कहीं भी नहीं और उतने नहीं। आज भी यही स्थिति है।

परन्तु एक विचित्र बात है। इधर शेष भारत के आधुनिक किसी भी धर्माचार्य का प्रभाव दक्षिण भारत पर नहीं पड़ा! कबीर, नानक आदि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ थे, इस लिए उधर प्रभाव न पड़ा होगा। महाराष्ट्र और गुजरात के सन्त भी साधारण जन-भाषा में ही उपदेश देते थे। बंगाल के कृष्ण चैतन्य देव आदि वैष्णव- आचार्य अवश्य सस्कृत का माध्यम रखते थे, पर इनकी भी पहुँच दक्षिण भारत में न हुई! समझा होगा कि जो वैष्णव धर्म दक्षिण से ही उधर गया, उसी की एक नई शाखा को यहाँ लाने की क्या जरूरत! आधुनिक 'आर्य-समाज' आदि से भी दक्षिण भारत प्रभावित न हुआ। स्वामी दयानन्द सरस्वती सस्कृत के विद्वान थे, वेदों के व्याख्याता थे; परन्तु दक्षिण भारत मे जो गम्भीर पाण्डित्य है, वह कुछ और चीज है। सम्भव है, इसी का अभिमान हो कि वहाँ किसी दाक्षिणात्येतर का कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

अपने-अपने अन्दाजे

आर्यों और द्रविडों के बारे मे विद्वानों के भिन्न-भिन्न अनुमान-मत हैं। पहले कह आए हैं कि कुछ लोगों का मत यह है

कि आर्य जन मूलत यहीं के निवासी हैं। कुछ लोग कहते हैं कि उत्तर की ओर से, कहीं से, आर्य लोग 'काकेसस' के रास्ते भारत मे आए। वडे-वडे काफलों में एक के वाद एक प्रवाह आता रहा और पूर्वागत आर्य्यों को आगे धकेल कर उनकी जगह वसता चला गया। आगे धकेले हुए आर्य जन अपनी वस्ती के लिए यहाँ के मूल निवासियों को आगे धकेलते रहे। कुछ लोग यह भी कहते हैं कि यहाँ के मूल निवासी द्राविड हैं, जिन्हें धकेलते-धकेलते आर्यों ने समुद्र-तट तक पहुँचा दिया, पर समुद्र मे डुवाया नहीं, न समूल उच्छेद किया।

परन्तु—जैसा कि हम पहले कह आए हैं—आर्य-द्रविड़ सघर्ष का कोई उल्लेख-संकेत हमे कहीं मिलता नहीं है। उलटे, सौहार्द के लक्षण दिखाई देते हैं। तव हम वैसे राजनैतिक या सास्कृतिक सघर्ष की कल्पना को कैसे हृदय मे वसा लें ? हम तो देखते है कि द्रविडों ने आर्य सस्कृति की वहुत सी वातें स्वेच्छया ग्रहण करली थीं। हरि और ऋक्ष जन भी आर्य-संस्कृति से प्रभावित थे। सम्भव है, यह सव अगस्त्य आदि ऋषियों के सांस्कृतिक मिशन का फल हो। लंका तक आर्य-संकृति पहुँच गई थी, यद्यपि राजनैतिक दृष्टि से सघर्ष चल रहा था। सक्षेप मे यही कहा जा सकता है कि आर्य-द्रविड सघर्ष की कल्पना पाश्चात्य विद्वानों ने किसी विशेष उद्देश्य से पैदा की और उसे हमारे सिर थोप दिया।

असली चीज कुछ और जान पडती है। आर्य जन चाहे यहीं के मूल निवासी हों और चाहे वाहर से आए हों, पर वे चारो ओर फैले; इसमे सन्देह नहीं। कभी-कभी एक ही जाति मे संस्कृत असंस्कृत वर्ग वन जाते है। आज भी निरक्षर और असंस्कृत जनता की अपेक्षा शिष्ट-संस्कृत वर्ग अपने को कुछ

भिन्न समझता है और बहुत से शिष्ट-संस्कृत जन ऐसी अलग बस्ती बना कर रहना पसन्द करते हैं, जहाँ वैसे (साधारण या निम्न श्रेणी के) किसी भी व्यक्ति का कोई झोपड़ा न हो। इन बेचारों की बस्ती अलग पड़ जाती है। सम्भव है, भारत के मूल निवासियों में ही आर्य (शिष्ट) तथा वन्य (कोल-भील आदि) के दो भाग हो गए हों। जैसे-जैसे सांस्कृतिक विकास के कारण नगर बसते गए हों, वैसे ही वैसे वन और वन्य जन उधर हटते गए हों। हमारा आग्रह यहाँ यह नहीं है कि आर्य जन मूलत यहीं के निवासी ही हैं; बाहर से आए ही नहीं। परन्तु एक सम्भावना भर दी है कि ऐसा भी हो सकता है। आर्य चारों ओर फैले।

उधर हरि तथा ऋक्ष नाम की जातियाँ जो बसती थीं और जिनका सामाजिक विकास भी स्वतंत्र रीति से होकर राज-व्यवस्था आदि सब कुछ अपना था, उनके बारे में भी वही कुछ कहा जा सकता है, जो कि आर्यों के एक भाग के बारे में ऊपर कहा गया है। सम्भव है, वन्य वर्ग के ही ये दो बडे भाग सुसंस्कृत हो कर इन दो नई जातियों के रूप मे आगए हों। आर्यों की संस्कृति भी, कुछ हेर-फेर के साथ उस समय के हरि और ऋक्ष जनों में दिखाई देती है, जब कि हम रामायण आदि देखते हैं।

हरि तथा ऋक्ष जनों के प्रदेशों से पूर्व एक भिन्न प्रकृति के जनपद अवस्थित हुए। इन्हीं को इतिहासकार सामान्यत. 'द्रविड़' कहते हैं। सम्पूर्ण भारत की आधुनिक प्रादेशिक भाषाओं से द्रविड़ भाषाओं की प्रकृति भिन्न है; परन्तु संस्कृत के कारण वे एक दम हमारे समीप हैं। इस भाषा-भेद के कारण लोगों ने आर्यों में और द्रविड़ों में भेद किया और कल्पना की यह कि

द्रविड़ यहाँ के मूल निवासी हैं और आर्य बाहर से आए। आकर इन्हें खदेड़ते-खदेड़ते समुद्र-तट तक ठेल ले गए! इस कल्पना का कोई आधार नहीं है।

ऐसा जान पड़ता है कि कुछ लोग दूर-दूर से इस ओर आए-समुद्री मार्ग से। भाषाविज्ञान वाले कहते हैं कि द्रविड़ भाषाओं मे कुछ ऐसे तत्त्व हैं, जो आस्ट्रेलिया तक की भाषा मे पाए जाते हैं। सम्भव है, वहीं से साहसी लोगों के काफले चले हों और उन मे से कुछ लंका में बस गए हों, कुछ समुद्र पार आ कर इस देश में बस गए हों। ये ही द्रविड हैं। द्रविड़ लोग लंका की अपेक्षा भारत के इस दक्षिणी अंचल पर अधिक सुख का अनुभव करते थे। अपनी स्वतन्त्र बस्तियां बना ली थीं और समाजिक जीवन का विकास कर रहे थे। लंका में भी द्रविड बसे हुए थे; इस परिचय या आत्मीयता के कारण लंका के राक्षस इन्हें सताते-छेड़ते न थे। यह भी ख्याल होगा कि ये तो हमारे समीप ही हैं, चाहे जैसे अधिकार मे किए जा सकते हैं। सम्भव है, यह सोचा हो कि ये लोग अपने ही हैं और जरूरत पड़ने पर भारत के विरुद्ध इन से काम लिया जा सकता है। उस समय राजनिति की ऐसी बातें चलती रहती थीं। राम जी तो पिता की आज्ञा से बन गए थे, निर्वासित होकर; परन्तु राजनीतिज्ञ राक्षसों ने समझा कि यह एक चाल है। पिता ने एक चाल चली है और बन मे राक्षसों की गति-विधि समाप्त कर के लंका की ओर राजनैतिक नजर की जाने का उपक्रम है। इसी लिए खर-दूषण ने अपनी बहन (शूर्पणखा) को भेज दिया था कि जा कर विवाह कर लो और सब भेद जाकर ले आओ। राम जी भी सब समझते थे। लक्ष्मण ने नाक कान काट कर एक चेलेंज भी दे दिया था। स्त्री को—जहाँ तक हो सके-मारना न

चाहिए वस आर्य-विधि थी। रावण ने इस चेलेंज को स्वीकार कर लिया और सीता को ले जाकर एक जगह कैद कर दिया। चेलेंज था कि हिम्मत हो तो ले जाओ। और कोई बात न थी। प्रतिपक्षी को लोक-दृष्टि में गिरा कर भी अपने पक्ष में समर्थन लिया जाता है। वैसा ही कुछ हुआ हो गा, वैसा ही लिखा गया और उसी के आधार पर रावण-दाह यहाँ होने लगा।

खैर, मतलब यह है कि द्रविड जनों को लंका के राक्षस न छेड़ते थे; यद्यपि हरि तथा ऋक्ष जन सताए जाते थे। ये भारत के मूल निवासी समझ कर ही सताए जाते हों गे कि यदि भारत से युद्ध हुआ, तो ये लोग अपनों का ही साथ दें गे। इन दोनों उप-जातियों पर पहले अधिकार जमाकर, तब शेष भारत को छेडने का विचार हो गा।

परन्तु बीच के घने सुविस्तृत जंगलों में वन्य (शवर, कोल भील, आदि) भी रहते थे। यद्यपि सुसंस्कृत आर्य जनों से ये दूर पड़ गए थे, बुरा भी मानते थे, लूट-मार भी करते थे, परन्तु फिर भी अपनापन निभाते थे। राक्षस लोग इन्हें अपनी ओर करना चाहते थे—उद्योग कर रहे थे; प्रत्येक वन में अपने शिविर बना रखे थे। उधर भारतीय ऋषि जन भी इन्हें सुशिक्षित कर के सभ्य नागरिक बनाने का उद्योग कर रहे थे। इसी बीच राम जी वन पहुँच गए!

जब राम जी वन को चले, तो लोगों ने समझाया कि दक्षिण के वनों में मत जाइए! राक्षसों के उपद्रव के कारण दक्षिण दिशा को लोग 'मृत्यु की दिशा' कहने लगे थे। कहते थे उधर मुँह मत करो, उधर की ओर पाँव मत बढ़ाओ।

परन्तु खतरे से कब तक और कहा तक डरा जाए? खतरे को दूर करना ही अच्छा। 'निसिचर - निकर नारि नर चोरा।'

मे प्राचीन काल का वह वन्य जीवन भी है, जिसकी कथाएँ हम पुराणों मे पढ़ते हैं और साथ ही कुछ लोग वहाँ इतने शिक्षित भी हो गए हैं कि किसी भी सभ्य समाज मे आसन पाने के अधिकारी हैं। अपने उस कदीमी रहन-सहन और रीति-रिवाज को ये गर्व के साथ अपनाए हुए हैं और इसी लिए शेष भारतीय जाति से पृथक् दिखाई देते हैं। परन्तु कभी न कभी ये भी सुसंस्कृत भारतीय बन जाएँगे।



(३)

शक-हूण आदि

हम पिछले परिच्छेद मे कह आए हैं कि सांस्कृतिक एकता से एक महान् जाति का निर्माण कैसे हुआ। कहने को यह इतनी जल्दी कह दिया गया और आप दस मिनट मे ही वह सब पढ़ गये होंगे, परन्तु वह उतना बड़ा और वैसा महत्त्व-पूर्ण काम सैकड़ों वर्षों मे नहीं, हजारों वर्षों मे जा कर पूरा हुआ होगा। किसी संस्कृति का निर्माण होने में और उसका उस तरह स्वेच्छा-प्रसार होने मे समय लगता है।

एक जाति में सब तरह के मत और वर्ग रहते हैं, यह सब जानते हैं। शासन-प्रवन्ध की दृष्टि से अनेक जगह विखरे हुए लोगों में भी सांस्कृतिक एकता रहती है, रह सकती है। लंका में राक्षस राज्य और दक्षिण मे द्रविड-राज्य, उधर हरि-राज्य और ऋक्ष-राज्य, कहीं यक्ष-राज्य, और कहीं नाग- राज्य। इधर उत्तर भारत मे सूर्यवंशीय और चन्द्रवंशीय क्षत्रिय-राज्य। यों एक संस्कृति और एक जाति बन जाने पर भी शासनिक एकता न थी। कभी-कभी एक दूसरे पर चढ़ाई भी कर देते थे। कभी कोई पराक्रमी वहुत से राज्यों पर अपना अधिकार जमा कर छोटा-मोटा साम्राज्य बना लेता था। इस तरह तलवार के जोर से बनाए हुए साम्राज्य कभी छिन्न-भिन्न भी हो जाते थे। ऐसी स्थिति मे वाहरी आक्रमण संभावित ही है। लोगों ने आक्रमण किए। शक-हूण आदि न जाने कितनी वाहरी जातियों ने इस देश पर आक्रमण किए। संगठित मुकाबला न हो सकने के कारण

वे घुस आए और बहुतों ने यहाँ बहुत दिनों तक शासन किया। चूंकि यहाँ कोई एक ही मजहब रखने की कट्टरता न थी—मजहबीपन न था - सब लोग स्वतंत्रता से चाहे जो मत मानते थे, या नहीं मानते थे, इस लिए कोई साम्प्रदायिक संघर्ष न हुआ। बाहर से विजेता के रूप मे समय समय पर आए हुए शक-हूण आदि इसी हिन्दू जाति मे खप-मिल गए। कोई क्षत्रिय कोई ब्राह्मण, कोई वैश्य और कोई लुहार—बढ़ई आदि बन गए। उन्हें किसी ने कभी 'शुद्ध' कर के किसी वैदिक या अवैदिक सम्प्रदाय मे नहीं मिलाया, वे स्वयं मिल गए। कितने ही विदेशी शासक यहाँ के 'भागवत' सम्प्रदाय मे मिल गए थे। प्राप्त शिलालेखों में उनके लिए 'महाभागवत' विशेषण बड़े ही गर्व से दिया मिलता है। आगे चल कर तो यह भी सब भूल गए कि हमारे पुरखे शक थे, या हूण! सब हिन्दू—न कोई शक है न हूण।

अमरीकी 'नेशन' बने अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं, इस लिए वहाँ के लोगों को मालूम है कि हम अंग्रेज पुरखों के वंशज हैं या स्पेन, जर्मन इटली, फ्रांस आदि के रक्त से हैं। यह जानते हुए भी अपनी नई जाति का उन्हें अभिमान है, यद्यपि अंग्रेजी नस्ल की प्रमुखता के कारण वहाँ अंग्रेजी भाषा और कुछ अंग्रेजियत की छाप है। यह सब को स्वीकार है। फ्रांस, स्पेन, या इटली आदि की नस्लें यह नहीं कहतीं कि हमारी (फ्रांस आदि की) भाषाएँ भी यहां चलनी चाहिए। उन सबने एक पृथक् जातीयता या राष्ट्रीयता का निर्माण कर लिया है। कालान्तर मे लोग भूल जाएँगे कि हम किस (दूसरे) देश के वंशज हैं। वैसा कहना समझना उन्हें सह्य भी शायद न होगा। परन्तु वहाँ के मूल निवासी (नीग्रो) लोगों को वे आज भी पृथक् समझते हैं और शायद बहुत दिनों तक समझते रहें। हमारे देश मे वैसा या

उतना भेद-भाव कभी नहीं रहा। रामायण आदि की कथाओं से भी स्पष्ट है। सम्भव है—जैसा कि हम पीछे कह आए हैं—भारत के कोल- ीलों को यहाँ का मूल निवासी कहना और आर्यों को बाहर से आए हुए बतलाना एक भ्रमात्मक कल्पना ही हो और इसी देश के मूल निवासी नागरिक (शिष्ट, आर्य) तथा तदितर (वन्य, जगली), इन दो भेदों मे विभक्त हो गए हों। जो नागरिक बन्धन-व्यवस्था पसंद नहीं करते, वे जंगल में रहेंगे ही और जो वन्य जन सस्कृत होंगे, वे बस्ती बसा कर एक जगह सहयोगपूर्वक रहेंगे ही। बस्तीदारी का जीवन ही संस्कृति-विकास का मूल है। नागरिकता, बस्तोदारी का जीवन, आर्यत्व एक ही चीज है। सो, आदि काल मे इस देश के निवासी जीवन-भेद के कारण दो भागों में बँट गए हों, यह आश्चर्य की बात नहीं। इसके विपरीत, यह मान लेने पर भी कि आर्य बाहर से इस देश में आए, स्थिति में कोई परिवर्तन नहीं। इस देश के तथोक्त मूलनिवासियों के साथ आर्यों ने वैसा हिंसात्मक वर्ताव नहीं किया, जैसा कि अमरीका मे आज नीग्रो लोगों के साथ किया जाता है। जो कोल-भील नागरिक-जीवन स्वीकार कर लेते थे, उन्हें सब सिर-माथे लेते थे। सुप्रसिद्ध रानी दुर्गावती एक क्षत्रिय -कन्या थी, जिसने अकबर से लोहा लिया था। उसका विवाह एक गोंड शासक से हुआ था, जिसकी राजधानी जबलपुर के पास (गढ़ा मांडला) थी। गोंड एक वन्य वर्ग, जिसे इतिहासकार भारत का मूल निवासी मानते हैं। गोंड शासक से विवाह संबन्ध कर देने से किसी ने उस क्षत्रिय शासक का बहिष्कार नहीं किया था। अमरीका में कोई 'शिष्ट' किसी नीग्रो को अपनी लड़की व्याह दे, तो उसकी दुर्दशा हो जाए !

इसी तरह ब्राह्मण, वैश्य, या अन्य वर्गों मे वन्य वर्ग

स्वत. खप जाते थे। इसी लिए ब्राह्मणों के, क्षत्रियों के, वैश्यों के और अन्य लोगों के वर्ग बहुत-बहुत भेदों मे विभक्त हैं। इसी तरह बाहर के लोग (शक-हूण आदि) मिल गए।

यह मिलन अत्यन्त स्वारस्य से हुआ, न कोई जोर-जुल्म, न कोई प्रतिबन्ध। बात बहुत स्पष्ट और विवाद-रहित है, इस लिए इसे अधिक विस्तार से कहने की जरूरत नहीं। अन्य लोगों ने बहुत विस्तार से सब लिख भी दिया है।

इस प्रकरण को हम भारतीय संस्कृति का द्वितीय युग' कहते है। बाहर से लोग शासक बन कर, तलवार के जोर से, आए और हमारी संस्कृति मे मिल कर पराये न रहे—हम सब एक हो गए।

शक-हूण आदि विजातीय तत्त्वों ने जब भारतीय संस्कृति अपना ली, तब उन के साथ कोई भेद-भाव का बर्ताव नहीं हुआ। परन्तु जो लोग शासक के रूप मे आकर विदेशी संस्कृति का ही मोह बनाए रहे, उन (विजातीय या अराष्ट्रीय) तत्त्वों का मिलन कैसे हो? कोई मनाही न पहले कभी थी, न अब है। फिर भी, हजारों वर्षों से बसे हुए लोगों ने इस देश की संस्कृति नहीं अपनाई, प्रत्युत मजहब के नाम पर इस देश के भी करोड़ों व्यक्तियों को उसी (विदेशी) रंग मे रँग दिया और एक सिर-दर्द सदा के लिए पैदा हो गया। इस का वर्णन अगले परिच्छेद मे होगा।

जो वन्य जन लूट-मार छोड़ कर नागरिक बन जाते थे, उन्हे भी बराबर का सम्मान मिलता था। एक लुटेरे भील ने जब, ऋषियों का संग करने से, अपने संस्कार ठीक कर लिए, तो स्वयं ऋषित्व प्राप्त कर लिया। आदि-काव्य (रामायण) के रचयिता महर्षि वाल्मीकि भील ही थे और वन मे रह कर लूट-

मार किया करते थे। बाद मे उन्होंने कैसा पद प्राप्त किया ? द्वापर के वाल्मीकि भगी थे और उन्हें ऐसा सम्मान मिला कि सभी ऋषि-मुनि फीके पड गए। वे काम तो 'अपना' ही करते थे; पर उनका जीवन बहुत ऊँचा था। श्रीकृष्ण ने तब तक युधिष्ठिर का 'राजसूय' यज्ञ पूर्ण घोषित नहीं किया, जब तक ससम्मान वाल्मीकि को आमंत्रित न किया गया। उन्हें राजकुल ले आने के लिए स्वय अर्जुन को उन (वाल्मीकि) के घर जाना पड़ा था और उन के लिए विशेष रूप से खास द्रौपदी को भोजन बनाना पडा था। श्रीकृष्ण का निर्देश ही ऐसा था। वाल्मीकि के पधारने पर ही यज्ञ पूर्ण हुआ' घोषणा श्रीकृष्ण ने की।

जो लोग वन मे रह कर लूट-मार करते रहते थे, वे अलग थे ही। उन के भी साधारण समाजिक नियम थे। तीरन्दाज ऐस थे कि गाण्डीवधारी अर्जुन को भी लूट लिया था ! लुटेरों को शस्त्रधारी कौन शासक बनाना पसन्द करे गा ? इसी लिए एक बहुत बड़े लुटेरे वर्ग का एक बालक जब बहुत बडा तीरन्दाज बन गया, तो उसका अँगूठा कटवा लिया गया था— उसे शक्तिहीन कर दिया गया था।

(४)

मुसलमानों के आक्रमण

राष्ट्र सांस्कृतिक दृष्टि से एक, परन्तु शासनिक दृष्टि से बिखरा हुआ था, यह बात हम पीछे कह आए हैं। कुछ आगे चल कर शासनिक एकता भी आने को हुई, छोटे-छोटे राजाओं पर अकुश कर के साम्राज्य बनने की स्थिति आई। बहुत दूर तक शासन एक हुआ। परन्तु साथ ही एक नई बीमारी भी घुस आई। बौद्ध मत की 'अहिंसा' का झूठा महत्त्व बढ़ा। अहिंसा-वाद के नाम पर देश में कायरता आगई। लोग तलवार देख कर सिर आगे कर देने लगे—जैसी भेड़ की अहिंसा होती है। सम्राट् अशोक ने जो अहिंसा-व्रत लिया और अपनी सरकार के अहिंसा-प्रचारक मिशन बनाया, तो दूर दूर तक बात फैल गई। किसी भी अच्छे भाव या काम का नाम लेकर ढोंग फैलता है-- फैलाया जाता है। सम्राट् अशोक के अहिंसावाद का भी यही हुआ। आगे चलते-चलते युद्ध-भावना से एकदम वैराग्य हो गया। भय पैदा हो गया, जिसे अहिंसा तथा सहनशीलता का नाम दिया गया। किसी भी वृत्ति के अतिरेक का या अतिशय महत्त्व-स्थापन का यही परिणाम होता है। किसी समय शत्रुओं का मुकाबला करने के लिए ऋषियों ने आग की उपासना पर जोर दिया था। 'अग्निमीडे' वेद का प्रथम वाक्य है। ठंढे मत पड जाओ। देवासुर संग्राम का समय था। ऋषियो ने अपनी सन्तति को युद्ध-प्रिय बनाया-शत्रुओं का (बाहरी आक्रमण

का) सामना कर के आत्म-रक्षा करने के लिए। आगे चल कर यही भावना विकृत हो गई। लोग आपस मे ही लडने-मरने लगे। छोटे-छोटे राजा लोग आपस में लड़ते-मरते रहते थे। प्रवाद था—'युद्ध में आमने-सामने कट-कट कर मर जाने से स्वर्ग मिलता है।' प्रजा को यों कटवाते रहते थे—आपसी ईर्ष्या-द्वेष के कारण। प्रजा को पशु समझ रखा था। बड़े-बड़े यज्ञ करते थे, अपना वैभव प्रदर्शित करने के लिए। धर्म के नाम पर पशु-संहार होता था। ऐसे समय में बुद्ध भगवान् पैदा हुए और उन्हों ने अहिंसावाद का प्रचार किया। बुद्ध स्वयं राज-कुमार थे और सब कुछ छोड़ आए थे, इस लिए बड़ा नाम था, बड़ी प्रतिष्ठा थी। नैपाल की तराई से लेकर इधर भारत के बड़े भू-भाग मे छोटे-छोटे गणराज्य क्षत्रियों के थे। ये आपस में लड़ा करते थे। परन्तु बुद्ध भगवान् की सब इज्जत करते थे। 'यथा राजा तथा प्रजा'। राज-सम्मान जिसे प्राप्त हो, उसे प्रजा मानती ही है, फिर भगवान बुद्ध तो सर्वस्वत्यागी महात्मा थे। राजा-प्रजा सब उन की वन्दना करते थे। उस समय अहिंसावाद की जरूरत थी। उसी पर बुद्ध ने सब से ज्यादा जोर दिया। कहाँ तक अहिंसावाद की सीमा है, कब तलवार पकडना धर्म है; इस का जिक्र वे न करते थे। यहीं श्रीकृष्ण के कर्मयोग से भिन्नता आगई। गीता में एकाङ्गिता नहीं है--यथास्थिति बुद्धि का उपयोग करने का उपदेश है। खैर, भगवान बुद्ध अपने मार्ग पर बढ़े। उन्हों ने ऐहिक सुख-भोग छोड देने का भी उपदेश दिया, जब कि गीता में नियन्त्रित और सन्तुलित सुख-भोग का उपदेश है। इस एकाङ्गिता का जो परि-णाम हुआ, उसकी चर्चा अभी की जाएगी। यहाँ इतना समझ लीजिए कि बुद्ध भगवान् के सामने ही, उन के परम प्रिय शिष्य,

उन गणराज्यों के शासक आपस मे लडते मरते थे—प्रजा को, सेना को गाजर-मूली की तरह कटवाते रहते थे। बुद्ध को मानते थे उनकी अहिंसा के गीत गाते थे और व्यवहार में ऐसे थे। दूर क्यों जाते हैं, महात्मा गान्धी के युग में तो हम सब जी ही रहे है। उनके 'सत्य' तथा 'अहिंमा' के सिद्धान्त इस देश मे कितने चले? उनके सामने ही क्या दशा थी देश की? वह सब उन के अन्तिम भाषणों मे मौजूद है। जन्म भर अहिंसा का प्रचार करके महात्मा जी ने लोगों को मरते-कटते देखा। फिर भी सब 'महात्मा गान्धी की जय' बोलते रहे। उनकी मान्यता मे कमी नहीं आई। कैसी स्थिति है। साक्षात् हिंसा उन के सामने आ खडी हुई और उस ने भी हाथ जोड कर उन्हें प्रणाम किया, उस के बाद अपना काम। इस हिंसा का मुकाबला हिंसा ही कर सकती थी। यदि प्रबन्ध होता, विधि-सम्पन्न शक्ति मुकाबले पर होती, तो वह दुर्घटना कैसे होती? सभी स्थितियों में अहिंसा हिंसा को रोक लेगी, इस दृढ़ मान्यता ने धोखा दिया। सर्वत्र अहिंसा से काम नहीं चलता है। भेडिया कभी भी अहिंसावाद के आगे सिर न झुकाए गा। एक व्यक्ति की बात और है। भगवान् बुद्ध या महात्मा गान्धी एकान्त अहिंसावाद का पालन कर सकते हैं, परन्तु साधारण जन के लिए वह चीज वैसी नहीं है। राष्ट्र का एकदम अहिंसावादी हो जाना और भी बुरा। भेड़िया तो चाहता है कि भेड़ सदा अहिंसक रहें, आपस मे भले ही पैने सींगों का उपयोग उछल-उछल कर करती रहें।

सम्राट् अशोक के बाद अहिंसा के गीत भर रह गए। सम्राट् कनिष्क बौद्ध थे, पर वैसे एकान्त-अहिंसावादी नहीं। अपना साम्राज्य दूर तक फैला लिया था। सम्राट् हर्ष ऐसे अहिंसावादी बौद्ध हुए कि व्यवहार मे साक्षात् हिंसा के अवतार। एक

प्रतिक्रिया थी। जनता वेवस और कायर हो गई।

मौका पा कर विदेशियों ने आक्रमण शुरू किए। सव से पहला आक्रमण सिन्ध पर 'मुहम्मद विन कासिम' ने किया। उस समय बौद्ध मत पंजाव और सिन्ध तक ही नहीं, आगे अफगानिस्तान तक पहुँच चुका था। सिन्ध में बौद्ध जनता ही अधिक थी। शासन एक ब्राह्मण के हाथ में था, जिसका नाम 'दाहर' था। दाहर ने वडी वहादुरी से आक्रमण का मुकावला किया और वह उसी युद्ध में वीर-गति को प्राप्त हुआ। उसके कुटुम्ब ने भी अपनी आहुति दे दी। सेना शिथिल हो गई। जनता अहिंसावादिनी थी। देश के अन्य शासक तमाशा देखते रहे। सिन्ध पर विदेशी कब्जा हो गया। इसके वाद उधर से होने वाले किसी भी आक्रमण का मुकावला सीमान्त में किसी ने नहीं किया। पजाव को रौंदते हुए आक्रमणकारी सीधे कुरुक्षेत्र तक वेधडक चले आते थे और देहली से कुछ दूर रोके जाते थे। जव देहली के समीप तक शत्रु घुस गया, तव मकान में घुसते कितनी देर। रोकना चाहिए था सुदूर सीमान्त से भी परे। परन्तु यहाँ तो इस लोक से कोई मतलव ही न था।

अहिंसा, दया और क्षमा का अविचारित अतिरेक तो देखए—प्रसिद्ध है कि विदेशी आक्रमणकारी कई वार परास्त कर के पृथ्वीराज के सामने कैदी के रूप में उपस्थित किया गया और मूर्ख नरेश ने वार-वार उस आततायी को क्षमा-दान देकर वापस अपने देश चले जाने दिया। वह समझ गया था इस देश की वुद्धि को, वार-वार आक्रमण करता रहा। जानता था कि छोड़ दिया जाऊंगा और कभी तो विजय होगी ही। पृथ्वीराज तो भगाई हुई कामिनी (संयोगिता) के साथ महल में रँग-रेलियाँ करता था, सेना कटती-मरती थी। हिम्मत टूट गई। कहाँ तक

जाने का सन्देह रहता है। रूप वैसा हो ही जाता है। इसी लिए 'स्व' का महत्त्व, स्वभाषा का महत्त्व। साधारणत --निर्विशेष रूप से---'श्री' शब्द का चलन सब के लिए उस समय हुआ। सम्भव है, हुकूमत ने इसे पसन्द न किया हो और बीच के लोगों ने भी मजाक उड़ाया हो। हो सकता है कि 'श्री' शब्द का प्रयोग करने के कारण लोगों को कुछ क्षति भी उठानी पडी हो। कदाचित् यही कारण हो कि लोग 'श्री' को द्विसक्त (डबल) प्रयोग करने लगे हों। बंगाल में अब भी कहीं-कहीं 'श्री श्री अनिल भट्टाचार्य' जैसे प्रयोग सामने आते हैं। कहीं बहुत्व भी 'श्री' को देने लगे और 'श्री श्री श्री जगदीशचन्द्र' लिखने में तीन बार 'श्री' लिखने की जगह 'श्री ३ महाराज विक्रमाजीत सिंह' लिखने लगे, जैसे कि तीन मात्राएँ (प्लुत) सूचित करने के लिए 'ओ३म्' लिखा जाता है। यह जिद या सत्याग्रह यहाँ तक बढा कि 'श्री १०८ महाराज विश्वानन्द' और 'श्री १००८ महाराज उद्धवानन्द' लोग लिखने लगे। करो विरोध, हम एक नहीं, एक हजार आठ बार 'श्री' शब्द का प्रयोग सम्मानार्थ करेंगे। उस समय सम्भव है, यह उत्कट संस्कृति-प्रेम दबाये न दबने पर 'पागलपन' कर के उपेक्षित कर दिया गया हो। १९२० से १९४४-४५ तक स्वराज्य-प्रेमियों को भी लोग 'पागल' ही कहा करते थे। 'पागल हो गए हैं, गूलर का फूल लेंगे।'

शासकों की (विदेशी) भाषाओं के बहुत से शब्द देश ने ग्रहण कर लिए, क्योंकि संकुचित मनोवृत्ति तो कभी इस देश में रही ही नहीं है रूमाल, कागज, हाजत, हजामत आदि सैकडों शब्द हजम कर लिए गए, परन्तु जिन शब्दों में संस्कृति भरी हुई है, जिनमें विदेशी जातीयता है, उन्हें नहीं लिया गया। 'रानी' की जगह 'बेगम' शब्द ग्रहण नहीं किया गया। कारण 'रानी'

शब्द में जो भारतीय शासक की पत्नी का भारतीय जीवन झलकता है, वह 'बेगम' में कहाँ है? 'बेगम' शब्द से कुछ और ही चीज प्रकट होती है। सर्वत्र ऐसे सांस्कृतिक शब्द इसी स्थिति में रहते हैं। अंग्रेज लोग बड़े उदार हैं। अंग्रेजी में 'क्वीन' 'बेगम' तथा 'रानी' आदि शब्द हैं; परन्तु अंग्रेज शासक की पत्नि के लिए सदा 'क्वीन' शब्द का ही प्रयोग होता है, 'महारानी' या 'मलका' 'बेगम' आदि का नहीं। अरब या ईरान के लोग भी 'बेगम' या 'मलका' की जगह 'रानी'-'महारानी' न देंगे। यानी संस्कृति-द्योतक शब्द 'अपने' ही रहते हैं।

सो, सामान्य भाषा के हिन्दी-उर्दू ये दो रूप हो गए और शब्दों का आदान-प्रदान भी हुआ; परन्तु संस्कृति-द्योतक शब्द अलग-अलग ही रहे। 'गुरु वशिष्ठ' को उस्ताद वशिष्ठ या हजरत वशिष्ठ कहना ऐसा लगता है, जैसे कि कोई गाली दे रहा हो। इसी तरह 'हजरत मुहम्मद साहब' की जगह 'गुरु मुहम्मद' अच्छा नहीं लगता। मुसलमान कभी भी ऐसे प्रयोग पसन्द नहीं करेंगे। 'मिस्टर' की जगह हम ने 'श्री' चला दिया, इस देश में; ठीक है; परन्तु 'श्री ईडन' या 'श्री डलेस' कहते कुछ भला नहीं लगता। 'मि० ईडन मि० डलेस से मिले' यों इन नामों के आगे हिन्दी में भी—मिस्टर ही अधिक अच्छा लगता है। परन्तु 'पण्डित मदन मोहन मालवीय' को 'मि० मदन मोहन मालवीय' अच्छा नहीं लगता। अंग्रेजी अखबार पहले 'मि० मालवीय' 'मि० गान्धी' जैसे प्रयोग ही करते थे; परन्तु मान्यता बहुत अधिक बढ़ जाने पर वे भी 'पंडित मालवीय' 'महात्मा गान्धी' लिखने लगे थे। यानी अंग्रेजी के अखबारों ने समझा कि ऐसे महत्त्वपूर्ण नाम विदेशी 'मिस्टर' शब्द के साथ अच्छे नहीं लगते—रसभङ्ग

तरह भारत के मुसलमान भारतीय संस्कृति ग्रहण न करेंगे और न इस देश के (सब के सब) हिन्दू मुसलमान ही बनेंगे। ऐसी स्थिति मे वह झगडा तो बना ही रहा, जिसे मिटाने के लिए राष्ट्र का विभाजन हुआ और वे-वे दर्दनाक नजारे सामने आए। यदि सांस्कृतिक एकता न हुई, तो राष्ट्र के लिए फिर भयंकर स्थिति पैदा हो सकती है।



(५)

अंग्रेजी राज और स्वराज

मुसलमान आक्रमणकारियों ने, लुटेरों ने और शासकों ने, हिन्दू-भावनाओं को कुचल देने के लिए क्रूर से क्रूर कार्य किए, पर सब सह कर भी यह जाति जीवित बनी रही— 'कूर्मोऽङ्गानीव सर्वश'— जैसे आपत्काल मे कछुआ अपने अङ्गों को समेट कर चुपचाप पड़ जाता है, वही स्थिति हिन्दू जाति ने ग्रहण की। बीच-बीच मे कबीर, अकबर, नानक और गान्धी जी जैसे महापुरुषों ने प्रयत्न किए कि दोनों मिल कर एक हो जाऐ, पर सब के सब असफल रहे! 'खिलाफत' आन्दोलन के समय अपने मतलब के लिए कुछ मेल-मिलाप नजर आया था; पर वह 'दूध पानी' का नहीं, 'चावल दाल' का सा मेल था और क्षणिक था, स्वार्थ-प्रेरित था, कृत्रिम था। एक न हो सकने का कारण सांस्कृतिक भेद था और है, यह बात पीछे कई बार कही गई है।

मुसलमानी साम्राज्य छिन्न-भिन्न होने पर योरपीय जातियाँ इधर गीधों की तरह देखने लगीं और मँडराने लगीं। फ्रेंच, पुर्तगाली, अंग्रेज आदि ने डेरे डाल दिए। कालान्तर मे किस तरह अंग्रेजी राज इस देश मे जमा और फ्रास-पुर्तगाल जैसे मौसेरे भाईयों की मूछे ऊँची रखने के लिए नाम-मात्र के प्रदेश उन्हें देकर अंग्रेज ने विविध सन्धियाँ करलीं और किस तरह इस देश के राजाओं ने घुटने टेक दिए, यह सब लिखने की जरूरत नहीं। सब जानते हैं।

आधुनिकता का प्रवेश

अंग्रेजी राज के साथ साथ इस देश मे आधुनिकता का प्रवेश हुआ। यह संयोग की बात है। यदि अंग्रेजी राज यहाँ न जम पाता और हम स्वतंत्र होते, तो भी आधुनिकता इसी तरह आती। जहाँ अंग्रेजी राज नहीं, वहाँ भी तो आधुनिकता का प्रवेश-प्रसार हुआ ही है। जब हवा चलती है, तो वह सब के लगती है, चाहे उसे कोई चाहे, या न चाहे। यही बात युग-चेतना की है। कुछ भी हो, अंग्रेजी शासन-काल मे इस देश ने आधुनिकता का स्पर्श किया।

'बाबू'-'मिस्टर' जमात

जैसे मुस्लिम शासन काल मे 'मुंशी'-'जनाब' लोगों की जमात बन गई थी, उसी तरह अंग्रेजी राज मे 'बाबू'-'मिस्टर' वर्ग बन गया था। अंग्रेजियत के मजनू और अंग्रेजी राज के भाट। कुछ लोगो को 'राय बहादुर' 'सर' आदि के खिताब दे कर सर कर लिया गया था। सो, यह शासनिक तोड-फोड थी। अंग्रेजों के कारण हमारे देश मे कोई तीसरी सस्कृति नहीं बन पाई, यह भगवान की दया। अन्यथा, यह एक और बखेड़ा पैदा हो जाता। अंग्रेजी राज के साथ-साथ वह 'बाबू'-'मिस्टर'-'सर' जमात भी अदृश्य हो गई। वे सब तो हैं, बबुई आदि जाती रही—वह अराष्ट्रीयता जाती रही। कृत्रिम चीज थी—स्वार्थ मात्र आधार था।

अब राष्ट्रीयता की फिर से नीवें लग रही हैं। अब जरूरत है कि हिन्दू जाति को बलिष्ट और संगठित किया जाए।

जात-पांत और वर्ण- व्यवस्था का भूत

वर्ण-व्यवस्था का भूत वडा भयंकर है। सावधान होने की जरूरत है। ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये जातियाँ नहीं, 'वर्ण' बनाए गए थे। जाति तो सवकी एक है—हिन्दू। हम सव हिन्दू हैं। भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' शब्द भी वही अर्थ देते हैं, पर अभारतीय भावना वाले लोग भी अपने को 'भारतीय' तथा 'हिन्दुस्तानी' कहते हैं, इस लिए स्पष्ट शब्द 'हिन्दू'।

वर्णव्यवस्था से हिन्दू जाति को किसी समय लाभ भी बहुत पहुँचा है। परन्तु अब वह स्थिति नहीं है। अब इस नाम भर की वर्णव्यवस्था से और जात-पाँत के अनगिनत भेदों से हिन्दू जाति छिन्न भिन्न हो रही है।

वस्तुत: आज वर्णव्यवस्था का नाम भर है। लाभ कुछ नहीं, हानि वहुत। सव अपने को अलग-अलग समझने लगे हैं। इस अलगाव को समाप्त कर देना चाहिए। वर्णव्यवस्था के भूत को भगाने के लिए लाल मिर्चों की धूनी भी देनी पड़े, तो घवराना न चाहिए। ब्राह्मण पण्डितों को चाहिए कि वर्ण-व्यवस्था हटाने में सहयोग दें। 'क्षत्रियों को राज करना चाहिए' 'वैश्यों को व्यापार करना चाहिए' वर्णव्यवस्था की इस मान्यता, भावना तथा रूढि ने कोटि-कोटि ब्राह्मणों को वहुत घाटे मे रखा है, वहुत भौतिक हानि पहुँचाई है। इस भावना को अब हटा देना चाहिए। जो घाटा हुआ, उसकी पूर्ति तो सम्भव नहीं, पर भविष्य अच्छा रहेगा। भावना ही आगे बढ़ती है और भावना ही आगे बढने से रोक देती है। सो ब्राह्मणों को अब झूठी वर्ण-व्यवस्था को नमस्कार कर लेना चाहिए। तुम्हारे पुरखों ने जो (ब्राह्मणत्व के कारण) त्याग-तपस्या की, उसका फल तुम्हें क्या मिल रहा है? क्षत्रिय

तो उन्हें करना पड़ा था, किसी वैसे क्षत्रिय के अभाव मे। अधिकारी मिलते ही अपना धनुष-बाण आदि सब अलग रख दिया, सौंप दिया। तुम्हारा काम जाने, तुम जानो। इस तरह के अप्रतिम महापुरुष का भी मन्दिर है? कहीं अर्चना होती है? यह इसीलिए कि ब्राह्मणों ने ऐसा उचित नहीं समझा। वैसी उदारता सब मे सम्भव नहीं। सम्भव था, परशुराम की पूजा प्रचलित होने से क्षत्रिय-समाज को बुरा लगता और दो प्रधान वर्गों मे अनबन हो जाती। बुद्धि का शस्त्र के साथ सहयोग न हो, कृष्ण अर्जुन से अलग हो जायँ, तो क्या होगा? सर्वत्र पराजय! तब आर्य-जाति और सस्कृति का क्या होता यही सब सोचकर ब्राह्मणों ने परशुराम-पूजा का विधान न किया, यद्यपि बाद मे बुद्ध-पूजा का स्वागत किया। इसी उदारता का फल है कि आज तक हम सब एक जाति के अग हैं।

परशुराम के प्रसङ्ग से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्राह्मणो ने आवश्यकता पड़ने पर राजनीति मे शस्त्र-ग्रहण भी किया है, पर विशेष स्थिति मे। जब हमारे शासक (क्षत्रिय) वर्ग मे कोई त्रुटि या शिथिलता आई है, तभी ऐसा हुआ है। झाँसी की ब्राह्मण-कन्या और ब्राह्मण-वधू (महारानी लक्ष्मीबाई) ने तब तलवार उठाई, जब क्षत्रियों की मर्दानगी ओजहीन हो चुकी थी। उसी समय अनेक अन्य ब्राह्मणों ने भी शस्त्र ग्रहण किया। इसका मतलब यह हुआ कि चार वर्णों की कर्म-व्यवस्था साधारण तौर पर है। विशेष परिस्थिति मे सबको सबके काम करने चाहिए। हमारे घर मे कल्लू कहार पानी भरता है। हम सब लोग पीते हैं। परन्तु घर मे आग लग जाने पर भी हम उसी के भरोसे बैठे रहें और सोचें कि पानी भर कर लाना हमारा काम नहीं तो हमारा घर जलकर खाक हो जायगा। कर्म अथवा वर्ण-व्यवस्था का

यह मतलब नहीं।

खैर, जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि ब्राह्मणों में कभी भी अपने वर्ग के प्रति पक्षपात नहीं रहा है, उचित भी नहीं, अनुचित की कौन कहे। उनकी इस विशाल-हृदयता ने ही उन्हें समाज का नेतृत्व दिया।

अँग्रेजी राज्य

जब देश में अँग्रेजी राज्य आया, तो एक नई हलचल उत्पन्न हुई। तब तक मुसलमानी राज्य के प्रभाव से हमारी समाज-व्यवस्था मे शिथिलता आ गई थी। मूलतः अपनी संस्कृति सुरक्षित रहने पर भी ऊपरी ढाँचे में कुछ साधारण परिवर्तन आ गए थे। ऊपर कह आए हैं कि दो बुद्धि-प्रधान (राष्ट्रवादी तथा अवसर-वादी) वर्गों मे संघर्ष शुरू हो गया था—'पण्डित' जी मे और 'मुंशी' जी मे झगड़ा चल रहा था। इसका फल यह हुआ कि राजसत्ता तो राष्ट्रवादी दल के विरुद्ध थी ही, समाज में भी कुछ भाव-परिवर्तन हो गए। उस अवसरवादी दल ने ऊपर से विदेशी शासकों की सभ्यता स्वीकार करके भी अपना 'धर्म' न छोड़ा, हिन्दुत्व न छोड़ा। इसमे दृढ़ता दिखलाई। ब्राह्मणों के साथ संघर्ष करके भी हिन्दुत्व न छोड़ना एक विशेष बात थी। यह भी कहा कि हिन्दुत्व का ठेका ब्राह्मणों पर ही नहीं है, हम भी उसी जाति के अंग हैं, जिसके ब्राह्मण। इस प्रकार की भावना ने हिन्दू-जाति को बचाया, बल दिया। साम्य-भावना मे शक्ति है। परन्तु धीरे-धीरे इसका फल यह हुआ कि साधारण जनता मे भी यह भाव जाग्रत हुआ। लोग हिन्दुत्व मे पक्के थे, ब्राह्मणों का सम्मान भी करते थे, पर उनकी 'सेवा' करने मे शिथिलता आ

गई। अमावस-पूनो आदि के सीधे-सामान भी बन्द होने लगे। जो लोग रूखा-सूखा खाकर जन-शिक्षण का काम किया करते थे, वे भी चिन्तित हुए। राजसत्ता से सहयोग न था। उर्दू-फारसी पढ़े विना (हिन्दी संस्कृत वाले को) सरकारी नौकरी कौन देता ? भूमि भी पास न थी। वैसी परम्परा में ही ये न थे। जो उस परम्परा में थे वे राजा, ताल्लुकेदार और जमींदार बने मजे में थे, भले ही तलवार पकडने का शऊर न हो। ब्राह्मण लोग व्यापार भी न कर सकते थे। पूँजी कहाँ से लाते ? उनकी तो परम्परा ही दूसरे ढँग की थी। पूँजी एक दिन में इकट्ठा नहीं हो जाया करती। बिडला और डालमिया आदि पर लक्ष्मीजी ने एक ही पुश्त में इतनी कृपा नहीं करदी है। ब्राह्मणों के बच्चे जब रोटियों के लिए भी तरसने लगे, तब ये डगमगाए। ऐसी परिस्थिति में महाराणा प्रताप जैसे फौलादी को भी पिघलते देखा गया है। ब्राह्मणों ने युगों तक कष्ट का जीवन बिताया था, पर जनता का बल था। विदेशी शासन से उसमें शिथिलता आ गई। कष्ट-सहन की भी कोई सीमा होती है। ब्राह्मण कुछ विचलित हुए।

अँग्रेजी राज्य आने पर जब नए युग का आरम्भ हुआ और प्रत्यक्ष संस्कृति और सभ्यता की रक्षा की दुहाई दी जाने लगी, तब ब्राह्मण-समाज ने भी अँग्रेजी पढ़-लिखकर राज-काज में भाग लेने की सोची। ब्राह्मण भी अँगरेजी पढ़ने लगे और सरकारी नौकरियों में जाने लगे। वह अवसर वादी वर्ग तो पहले से ही राज-दरबार में डटा था। इस नये और प्रभावशाली वर्ग को वहाँ आते देख चौंका, गुर्राया। 'सेवा श्ववृत्तिराख्याता।' नौकरी एक कुत्ते का-सा काम है। दूसरे को आता देख गुर्राना स्वाभाविक है।

दोनों दलों में भीतर ही भीतर संघर्ष चला। अब तक

प्रतिस्पर्द्धा चल रही है, विशेषत युक्त-प्रान्त मे। यहाँ तक कि कांग्रेसी हलके भी इस हलकेपन से खाली नहीं हैं। जब सन् १६३७ में देश के विभिन्न प्रान्तों में कांग्रेसी मन्त्रि-मण्डल बने,१ तो स्वभावतः सर्वत्र ब्राह्मणों का प्राधान्य रहा। जनसत्तात्मक शासन मे यह सम्भव ही है। जिस वर्ग ने अपने अधिक आदमी त्याग और तपस्या के जीवन मे लगाये थे, उसी की प्रधानता होनी ही थी। सब मन्त्रि-मण्डलों में ब्राह्मणों की प्रधानता देखकर युक्त-प्रान्त के प्रतिद्वन्द्वी दल से एक आवाज उठी— ब्राह्मण-राज्य! ब्राह्मण-राज्य!' कांग्रेस-विरोधी 'लीडर' आदि अखबारों ने इस आवाज को ऊँचा उठाया। हंगामा खडा कर दिया गया। आखिर किसे मन्त्रि मण्डल मे ले? किसे अलग करे? अन्तत प० प्यारे-लाल शर्मा को समझाकर शिक्षा-मन्त्री के पद से त्याग-पत्र दिलाया गया और बाबू सम्पूर्णानन्द जी को उनकी जगह लाकर बैठाया गया। तब वह 'आन्दोलन' शान्त हुआ। कहने का मतलब यह कि मुसलमानी शासनकाल में आर्य-जाति के जिन दो बुद्धि-प्रधान वर्गों मे संघर्ष चल पडा था, वह अब तक चल ही रहा है। अभी हाल की ही बात है, बाबू सम्पूर्णानन्द जी ने एक बहुत अच्छी पुस्तक लिखी—

ब्राह्मण ! सावधान

इसमें ब्राह्मणत्व को पुन. जागृत करने के लिए एक चेतावनी थी। लिखा था कि ब्राह्मण पहले कैसे थे और अब कैसे हो गए हैं। समाज की रक्षा के लिए इन्हें फिर सजग होना चाहिए।

चूंकि वह सघर्ष की भावना विद्यमान थी, इस चेतावनी से भी ब्राह्मणों ने बुरा माना; उसी तरह जैसे श्री सहगल के ('चाँद' के) 'मारवाड़ी अङ्क' से मारवाड़ी समाज ने और मिस

मेयो की 'मदर इण्डिया' से भारतीय समाज ने कभी बुरा माना था। यदि मन में कुछ वैसी भावना न होती, तो उस पुस्तक मे कोई वैसी बात न थी। एक विद्वान् कायस्थ ने ब्राह्मण-समाज के उत्थान के लिए कुछ लिखा, तो क्या बुरा किया ? क्या कायस्थ अपने नहीं है ? इस प्रकार की भावना अच्छी नहीं। आर्य-जाति के सब अग हैं, सब समान हैं। एक-दूसरे को चेतावनी देकर उठावें, तो बुरा क्या है ? सकुचित मनोवृत्ति छोडनी चाहिए। वही उदारता अपनाओ, तब कुछ होगा। जो सघप किसी समय चल पडा था उसे समाप्त समझना चाहिए। अब ब्राह्मण भी राज-काज मे भाग लेने के लिए अँगरेजी पढते हैं और उसी सभ्यता को अपनाते हैं। तब फर्क क्या रहा ? दूसरे लोगो को भी समझना चाहिए कि ब्राह्मण लोग प्रतिद्वन्द्विता करने के लिए इस निषिद्ध मार्ग मे नहीं आए हैं, उन्हें इस ओर आने के लिए परिस्थितियों ने विवश किया है।

हाँ, अगरेजी राज्य आने पर ब्राह्मणत्व की वह धारा—वह सरस्वती—लुप्त हो गई। नाम भर बाकी है।

मृग-मरीचिका

जब ब्राह्मणों ने दूसरा मार्ग पकडा, तो मानसिक भाव भी बदले। जो त्याग और तपस्या से अपना उत्कर्ष समझते थे, वे 'पैसे' को ही सब कुछ समझने लगे। वस्तुत: यह पैसे का युग है। इसने इस महत्त्वशाली वर्ग पर जादू फेका। बिना पैसे के कोई किसी को पूछता जो नहीं।

परन्तु यहा मैं ब्राह्मणो को एक चेतावनी देना चाहता हूं। वे मृग-मरीचिका के पीछे न दौडे। वे जैसी परम्परा मे आये हैं, कभी भी जयपुर, जोधपुर, ग्वालियर या बडोदा जैसे राज्यो के

राजा नहीं हो सकते। न वे बिड़ला डालमिया का मुकाबला व्यापार में कर सकते हैं चाहे जितनी प्रतिभा हो। व्यापार में लगाने के लिए सम्पत्ति कहां से लाएँगे? फलत अपने विशेष उत्पर्क के लिए त्याग और तपस्या की ओर देखना चाहिए — जैसे उडि जहाज को पछी, पुनि जहाज पै आवै।' और कोई उपाय नहीं है। ब्राह्मण चाहे तो 'महर्षि मालवीय' बन सकता है, जिसके चरणों पर ग्वालियर-नरेश तथा बिड़ला लोटते हैं, परन्तु ग्वालियर-नरेश या बिड़ला बनना सम्भव नहीं। यह हमारी परम्परा का प्रभाव है। हमारे पुरखों ने हमें इसी योग्य बनाया है। हम इसी ओर चलकर उत्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं। हां साधारण जीविका के लिए आप दूकान या खेती भले ही करें, करते ही हैं और करनी ही चाहिए। समय ही ऐसा है। परन्तु इसे उत्कर्ष का साधन समझने की गल्ती न करें। दूसरों के लिए वह सब उत्कर्ष का साधन है, तुम्हारे लिए नहीं। इस सम्बन्ध में हमें जो कुछ अधिक कहना है, आगे कहेंगे। यहां तो इतना प्रसंगवश ही कह दिया।

इस तरह हमने सक्षेप से एक धारा के दर्शन किए। इसका कैसे उद्गम हुआ, कैसे इसने राष्ट्र और समाज को जीवन दिया और किस तरह नाममात्र को रह गई, यह स्पष्ट हुआ।

दान-वृत्ति

दान वृत्ति के लिए ब्राह्मणों की विगर्हणा होती है। जिन्होंने सबको सब कुछ देकर अपना हाड़-मांस तक समाज-सेवा में गला दिया जिन्हें परम्परागत गरीबी मिली, उनकी निन्दा होती है, दान लेने के कारण। इस प्रवाद की जितनी कुत्सा की जाय, थोड़ी है। ब्राह्मण ने कभी किसी से 'दान' लिया नहीं, सदा

सबको दिया है। इसी का फल परम्परागत गरीबी है। इसीलिए मनु ने बड़ी कृतज्ञता के साथ स्पष्ट लिखा है—

सर्वं स्व ब्राह्मणस्येद यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ।
श्रैष्ठ्येनाभिजनेनेद सर्वं वै ब्राह्मणोऽर्हति ॥

अर्थात् राष्ट्र मे जो कुछ भी सम्पदा-ऐश्वर्य या प्रभुत्व है, वह सब वस्तुतः ब्राह्मण का है। क्षत्रिय को राज्य और वैश्य को लक्ष्मीपतित्व उसी का दिया हुआ है। वस्तुत वह (ब्राह्मण) अपनी बुद्धि तपस्या तथा उदारता आदि की श्रेष्ठता के कारण तथा शानदार तेजस्वी परम्परा के कारण यह सब कुछ प्राप्त करने का अधिकारी है।

इसके अगले ही श्लोक में फिर उन्होंने स्पष्ट किया है—

स्वमेव ब्राह्मणो भुङ्क्ते, स्व वस्ते, स्वं ददाति च ।
आनृशंस्याद् ब्राह्मणस्य भुञ्जते हीतरे जना ।

ब्राह्मण अपना खाता है अपना पहनता है, अपना ही (दूसरों को) दान करता है। दूसरे लोग उसी की कृपा से सब उपभोग करते है।

वस्तुत यह उस समय की वस्तुस्थिति का वर्णन है। जिन्हे हमारे पुरखो ने वह सब देकर इस लायक बनाया था, वे ही अब इस पैसे के युग मे, हमारी गरीबी पर हँसते है। कृतज्ञता तो दूर, उलटे यह मनोवृत्ति। हमारी बिल्ली हमसे ही म्याऊँ। खैर, समय का फेर है। हमारे पुरखो ने उत्तराधिकार मे हमें गरीबी दी, कुछ कमाकर न धर गए, न जमीन, न पूंजी। फिर भी हमे सन्तोष है। गर्व है कि हम उस परम्परा के है। किसी तरह अपना काम चलाते है। परन्तु तो भी चैन नहीं। सुनने को वह बोली। वैसी ठठोली। ब्राह्मण को 'मँगता कौम' तक कहने की

धृष्टता की जाती है। हमें इस पर आज विचार करना है।

इसमें सन्देह नहीं कि मांगना बहुत बुरा काम है। यदि किसी अंश में यह दुर्वृत्ति हो, तो अविलम्ब छोड़ने योग्य है। देखें, कहां यह है!

किसी भी शहर, कस्बे या गांव में आप देखें, अधिकांश ब्राह्मण समयानुसार खेती, नौकरी या दूकान आदि के द्वारा अपना काम चलाते नजर आएँगे। कहीं कोई 'मांगनेवाला' न दिखाई देगा।

तीर्थों में कुछ पंडे-पुरोहित रहते हैं। इन्हें लोग 'दान' लेनेवाले कहते हैं। परन्तु यह बात गलत है। तीर्थों के पंडे 'दान' नहीं लेते, कड़ा परिश्रम करके खाते हैं। उन्हें उनकी मेहनत के बदले जो स्वेच्छा से लोग देते हैं, उसे ही 'दान' समझा जाता है, जो गलत है। किसी भी तीर्थ के पंडे रात-बिरात, वर्षा और धूप में, कड़ाके की सर्दी में, घर से निकलकर रेलवे स्टेशन जाते हैं। वहां से यात्री को ले जाकर यथास्थान ठहराते हैं। उसकी सुख-सुविधा का पूरा प्रबन्ध करते हैं। फिर उसे साथ ले जाकर सब दिखाते हैं, दर्शन और स्नानादि कराते हैं। यों यात्री को वह सब कुछ एकत्र मिल जाता है, जो उसे जरूरी है। होटल के आदमी ऐसा आराम नहीं दे सकते और कोई दूसरा 'गाइड' इस सतर्कता से सब दिखा नहीं सकता। फिर भी, पारिश्रमिक का कुछ ठहराव नहीं! चलते समय यात्री ने जो कुछ दे दिया, ले लिया और उसे आशीर्वाद दिया। जिसने कुछ न दिया, न दो! इसीलिए लोगों ने उसे 'दान' समझ लिया। यदि ये पंडे अपनी निश्चित फीस बांध दें और जबरदस्ती उसे वसूल करें, तब 'दान' न रहेगा! कैसा बुद्धि-भ्रम है! इनके पारिश्रमिक को 'दान' कहना गलती है।

कुछ ब्राह्मण पौरोहित्य करते हैं। उनके पारिश्रमिक को भी लोग 'दान' कहते हैं। यह भी विडम्बना है। 'दान' तो वह है जो विना कुछ किए घर में पहुँच जाय। निःसन्देह ऐसा दान' साधु-महन्तों को मिलता है जिनमें नब्बे प्रतिशत से भी अधिक संख्या गैर-ब्राह्मणों की है। तब 'दान' कौन ग्रहण करता है? सोचकर देखने की बात है। ब्राह्मणों को 'दान' लेनेवाला कहकर चिढ़ाना एक अक्षम्य सामाजिक अपराध है और बडी भारी कृतघ्नता है। फिर भी, मैं ब्राह्मणों से निवेदन करूँगा कि यदि कहीं कोई ऐसी बात हो तो छोड़ देना चाहिए। 'दान' लेना हमारे लिए शोभा की चीज नहीं।

हमारा उत्कर्ष

यदि आप अपना उत्कर्ष चाहते हैं तो अपने रूप को पहचानना होगा, राष्ट्र के लिए त्याग और तपस्या को अपनाना होगा। क्षत्रिय अब भी अपने राज्यवैभव का प्रदर्शन कर सकते हैं। वैश्य अब भी करोडों की थैलियाँ उछाल सकते हैं। तुम्हारे पास क्या है? इन नागरिक चीजों से तुम किसी का मुकाबला कर सकते हो? सबसे नीचे रहोगे। तुम्हारे गाँव के सेठजी ने जितना रुपया लडकी के विवाह मे खर्च किया, उतना तुम भी करो, क्या यह सम्भव और ठीक है? हो सकता है? तुम इसके उलटे एक नारियल भेंट करके लडकी का विवाह करो उसे सर्वथा योग्य बनाकर। उसे त्याग और तपस्या का उपदेश दो। इससे तुम्हारी शोभा होगी। दूसरों की नकल करने से काम न चलेगा। वह हमारी परम्परा के अनुकूल नहीं है। हाँ, त्याग और तपस्या मे तुम उनसे आगे बढ सकते हो। बुद्धि तुम्हें अब भी प्राप्त है। इस गिरी दशा मे भी प्रतिभा ने तुम्हारा साथ नहीं छोडा है।

उसके बल पर आगे बढ़ो, राष्ट्र तथा धर्म की सेवा करो। यदि ऐसा नहीं कर सकते, तो चुपचाप जीवन-निर्वाह करो। उत्कर्ष प्राप्त करके सबके सिरमौर बनने की कल्पना छोड़ दो। यह एक पुश्त में सम्भव नहीं कि तुम वैसे बन जाओ, धनकुबेर या कहीं के नरेश बन जाओ। कहीं कोई भाग्य से कुछ बन जाय, वह और बात है।

ब्राह्मण की अग्रगामिता

अच्छी तरह सब लोग जानते हैं कि ब्राह्मण जिधर भी जायगा, अग्रगामी रहेगा। समाज-सुधार की आजकल धूम है और वर्ण व्यवस्था को तोड़ देना ही इसके लिए अमोघ औषध समझी गई है। जहाँ-तहाँ 'जात-पाँत तोड़क मण्डल' भी कायम हुए हैं। परन्तु यह कील इतनी मजबूत गड़ी है कि उखाड़े नहीं उखड़ती। इसके लिए लोग ब्राह्मणों को दोषी ठहराते हैं और मच पर चढ़कर गालियाँ देते हैं। परन्तु आप देखें, दोष किसका है? ब्राह्मणों को वर्ण-व्यवस्था के कारण अब तक क्या लाभ हुआ है और आगे क्या होने की आशा है, सब जानते हैं। उलटे, कुछ ब्राह्मण तो अग्रगामी हुए हैं यद्यपि उनकी यह 'अग्रगामिता' हम लोगों को कतई पसन्द नहीं। छोटे-मोटे नहीं, चोटी के ब्राह्मणों ने अपनी लड़कियाँ वैश्यों को दे दीं। चक्रवर्ती श्री राजगोपालाचार्य ने अपनी लड़की महात्मा गांधी के लड़के श्री देवदास गांधी को ब्याह दी, जो दिल्ली के एक अखबार के डायरेक्टर हैं। पं० जवाहरलाल नेहरू ने अपनी छोटी बहन एक दूसरे सेठ—श्रीहठी भाई—को ब्याह दी, जिनका नाम पहले कोई जानता ही न था। एक बंगाली ब्राह्मण कन्या से महात्मा गांधी के पौत्र श्री कनु गांधी

उत्तराधिकार को मानते है और आप हमारे इस ऊपरी सम्मान को भी नहीं देख सकते। यह तो अपने आप उठा जा रहा है। ससार की गति ऐसी ही है। तब आप हमे चिढ़ाकर क्या फल चाहते है ? यह क्या अच्छा है ? हम भी आपके ही हैं, आपके सदा काम आए हैं और आपके लिए ही है। हमारी विशेषता नष्ट न करोगे तो, कभी-न-कभी हम समाज की सेवा मे उसी तरह काम आएँगे, क्योंकि तब हमें भान रहेगा—

'ब्राह्मणस्य हि देहोऽय क्षुद्रकामाय नेष्यते'

ब्राह्मण का यह शरीर क्षुद्र कामनाओं की पूर्ति के लिए नहीं है, इसका महान् उद्देश्य है।

अब भी कुछ है

समय की गति से देश का ह्रास हुआ। इस देश के अन्तिम सम्राट पृथ्वीराज ने अनेक बार विदेशी आक्रमणकारी को परास्त करने मे देश के असख्य योद्धा कटवा दिये और फिर बार-बार उसे 'माफ' कर देने की 'उदारता' प्रकट की! यह 'उदारता' देश के लिए बहुत मँहगी पड़ी। हम मुद्दत के लिए पराधीन हो गए। हमारा सब कुछ नष्ट हो गया। हम सर्वथा हीन हो गए। न राज्य रहा, न व्यापार रहा और न वैसी प्रज्ञा ही रह गई। ब्राह्मण भी गिरे। परन्तु इस गिरी दशा मे भी अभी बहुत कुछ हैं। राजनीति मे लोकमान्य तिलक, कविता मे श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर, सगीत को पुनरुजीवन देने मे श्री विष्णु दिगम्बर, समाज-सुधार मे स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि रत्न अपना अप्रतिम स्थान रखते है। आज भी देश के अधिकाश विश्वविद्यालयों का सचालन ब्राह्मणों के ही हाथों हो रहा है। ब्राह्मण ऐसे गिरे हुए इस समय भी नहीं है। परन्तु हमें अपनी

इस अवस्था से सन्तोष नहीं है। हाँ, दूसरे हँसें, यह ठीक नहीं। वस, इतना ही निवेदन करना था।"

मेरे इस निवन्ध ने काम किया और शान्ति हुई। परन्तु कुछ दिन वाद फिर वही हवा चली! लोगों ने समाज-सुधार के नाम पर दूसरों को बुरा-भला कहना एक फैशन वना रखा है! इस से क्या भला होगा?

'सस्कृति शब्द का गलत अर्थ में प्रयोग

कुछ दिनों से संस्कृति का प्रयोग एक वहुत गलत अर्थ में हो रहा है! जैसे देव' शब्द का प्रयोग 'राक्षस' के अर्थ में और 'हजरत' शब्द का प्रयोग 'चालाक' के अर्थ मे किया जाता है। एक जगह भावना-विशेष काम करती है दूसरी जगह लक्षण। सस्कृति का अर्थ स्पष्ट है—सस्कारजन्य भावनाएँ और ततदनुकूल आचार-व्यवहार, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि। परन्तु नाचने-गाने वालों की मंडली को जव 'सांस्कृतिक शिष्ट मण्डल' कहा जाता है, तव क्या समझा जाए? 'सगीत-मण्डल' वना-वनाया शब्द है। यह और वात है कि प्रत्येक देश मे—प्रत्येक जाति मे—नृत्य-गायन आदि के स्वरूप मे भेद है। इसे जाति भेद से, या सस्कृति-भेद से सगीत-विशेष ही तो कहेंगे? 'संगीत' ही संस्कृति कैसे हो जाए गी? हाँ, सस्कार का दूसरा अर्थ लेकर—परिष्कार का समकक्ष समझ कर—'संस्कृति' का तदर्थ प्रयोग किया जाए तो वात दूसरी है। महर्षि मालवीय हमारे सांस्कृतिक नेता थे। राजर्षि टंडन तथा आचार्य विनोवा भावे हमारे सांस्कृतिक नेता हैं। परन्तु सुप्रसिद्ध कलाकार श्री उदयशंकर जी को हम 'सांस्कृतिक' नेता कैसे कहेंगे?

पिछले दिनों की वात है, वर्धा में अ० भा० हिन्दी सम्मे-

लन था । राजर्षि टंडन, महापण्डित राहुल साकृत्यायन आदि बड़े-बड़े लोग पहुँचे थे । पं० रविशंकर शुक्ल ने उद्‌घाटन किया था और पं० द्वारकाप्रसाद मिश्र अध्यक्ष थे । दो दिन का पूरा कार्य-क्रम समाप्त हो जाने पर पं० रामेश्वरदयाल दुबे ने एक सूचना उद्‌घोषित की—

"सम्मेलन का सब कार्य-क्रम पूरा हो चुका है, ' अब रात में केवल सास्कृतिक कार्य-क्रम होना बाकी है ।"

मैं समीप ही मंच पर बैठा था । जोर से मैंने कहा—

"क्या अभी तक का सम्पूर्ण कार्य-क्रम असास्कृतिक था ?"

लोग हँस पड़े । दुबे जी ने कहा—'मेरा मतलब मनोरंजक कार्य-क्रम से है ।'

अच्छा—तो फिर, मनोरंजक कार्य-क्रम' कहिए न ! अभी पिछले दिनों तक यही तो कहा जाता था । जब देश स्वतन्त्र हुआ और सास्कृतिक चर्चा आगे बढ़ी, तो यार लोगों ने 'सस्कृति' शब्द का यों अर्थान्तर में प्रयोग करना शुरू किया । बात यों भी उडाई जाती है । यह भी एक तरीका है । परन्तु जो लोग समझ-बूझ कर शब्द-प्रयोग करते हैं, उन्हें तो सोचना ही होगा । वैसे आज कल शब्द-प्रयोग में जो लबड़-धोंधों चल रही है, सामने है ही ! 'सुरक्षा' को 'प्रतिरक्षा' कहा जा रहा है ! रक्षा के मुकाबले 'प्रतिरक्षा' ! 'आक्रमण' प्रर 'प्रत्याकमण' तो सुना था; अब किसी की अपनी 'रक्षा' से भी हमे मुकाबला करना होता है-'प्रतिरक्षा' । उपसर्गों से बहुत प्रेम है, तो 'परिरक्षा' कर लेते-'परित-रक्षा' । खैर, बात दूसरी है । नाचने-गाने को 'संस्कृति' कहना भी ऐसा ही समझिए ।

